

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180853

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^H 82.01 ^H Acc No. 2880
J25J

Author :

॥

जैन फूल चन्द्र मोरजा

Title :

जयशंकर प्रसाद और

शु वरवामिनी

Osmania University Library

Call No. ^H 82.01

Accession No. ^H 2880

J25J

Author

जन फल यन्त्र शास्त्र

Title

जयशंकर प्रसाद और छंद वर्यवर्ग

This book should be returned on or before the date last marked below.

जयशंकर प्रसाद और ध्रुवस्वामिनी

लेखक—

श्री फूलचन्द्र जैन 'सारङ्ग' एम० ए०

हिन्दी विभाग

एम० डी० जैन कालिज, आगरा ।

विनोद पुस्तक मन्दिर

प्रकाशक—

राजकिशोर अग्रवाल

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

[सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन]

प्रथम संस्करण सितम्बर—१९५७

मूल्य १॥)

अथवा

[एक रुपया पचास नया पैसा]

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरख़ाँ, आगरा ।

दो शब्द

‘ध्रुवस्वामिनी’ प्रसादजी के नाट्य-साहित्य की गौरवपूर्ण शृङ्खला की अन्तिम कड़ी है। आकार में लघु होते हुए भी उनकी इस अन्तिम नाट्य रचना का स्थान प्रसाद जी के समूचे नाट्य साहित्य में सर्वोपरि है। सच तो यह है कि नाट्य साहित्य की कलागत विशेषताओं के जैसे सुन्दर तत्व इस रचना में उभरे हैं वैसे उनके अन्य नाटकों में दृष्टिगोचर नहीं होते। प्रसादजी की ऐसी महत्वपूर्ण रचना को उसकी भाव और कला परक विशेषताओं के साथ अपने ढ़ी पाठकों के सामने, प्रस्तुत आलोचना कृति के रूप में रखते हुए मुझे प्रत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

‘ध्रुवस्वामिनी’ पर लिखी गई यह आलोचना कृति जैसी भी है अपने पाठकों के सामने है। इस आलोचना कृति में क्या विशेषताएँ हैं, मुझे अपनी ओर से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहना। इसका निर्णय तो इस कृति के पाठक ही करेंगे। मेरा तो अपनी ओर से सिर्फ इतना ही निवेदन है कि इस आलोचना कृति के माध्यम से पाठकगण ध्रुवस्वामिनी जैसी सुन्दर रचना की विशेषताओं से परिचित बनते हुए उसके नाट्य सौन्दर्य का अधिक-अधिक आनन्द प्राप्त कर सके, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

फूलचन्द्र जैन ‘सारंग’

विषय-सूची

—जयशंकर प्रसाद

(१) जीवन परिचय	१
(२) प्रसाद जी का साहित्य	५
(३) हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसाद जी का स्थान	६
(४) प्रसाद जी की नाट्यकला की विशेषताएँ	१८

—ध्रुवस्वामिनी

(१) रचना-काल	२५
(२) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	२५
(३) इतिहास और कल्पना	२८
(४) ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु	३०
कथावस्तु की समीक्षा	३५
भारतीय नाट्यशैली और ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु	३८
पाश्चात्य नाट्यशैली और ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु	४२
(५) चरित्रचित्रण	४५
ध्रुवस्वामिनी	४६
कोमा	४८
मन्दाकिनी	५०
रामगुप्त	५१
चन्द्रगुप्त	५३
शकराज	५५
शिखरस्वामी	५६
मिहिरदेव	५७

पुरोहित	५७
चरित्रचित्रण की विशेषताएँ	५८
(६) कथोपकथन और भाषा शैली	६१
(७) अतीत दर्शन और वर्तमान की चेतना	६६
(८) ध्रुवस्वामिनी में नारी समस्या	७१
(९) ध्रुवस्वामिनी नाटक की अन्य विशेषताएँ	७५
रस योजना	७५
गीत योजना	७६
अन्तर्द्वन्द और बहिर्द्वन्द	७७
नियतिवाद	७८
अभिनयात्मकता	८०
पाश्चात्य और भारतीय नाट्यशैली का समन्वय	८२

३—व्याख्या

प्रथम अङ्क	८५
द्वितीय अंक	८६
तृतीय अंक	१०२

४—संभावित प्रश्न

१०९

जयशंकर प्रसाद और ध्रुवस्वामिनी

जयशंकर प्रसाद

जीवन परिचय

माघ शुक्ला दशमी संवत् १९४६ को पुण्यधाम काशी में हिन्दी साहित्य की इस महान् विभूति का आविर्भाव हुआ था। काशी के जिस संभ्रांत परिवार में प्रसादजी का जन्म हुआ वह 'सुंघनी साहू' के नाम से प्रसिद्ध था। पितामह बाबू शिवरत्न प्रसाद ने जरदा, सुरती तथा तम्बाकू के व्यापार में खूब धन और यश का अर्जन किया था। उनकी दानशीलता की कहानियाँ अब भी काशी के लोग भूले नहीं हैं। साहू शिवरत्नजी के पुत्र बाबू देवीप्रसाद जी ने अपने वंश की प्रतिष्ठा को कायम रखा। उनके दो पुत्र हुए ज्येष्ठ शम्भुरत्न और कनिष्ठ जयशंकर प्रसाद।

प्रसादजी का बचपन बड़े लाड़-प्यार में व्यतीत हुआ। जब उनकी अवस्था ग्यारह वर्ष की थी तभी उन्होंने अपनी माता के साथ धारक्षेत्र, श्रींकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज, अयोध्या आदि नगरों की यात्रा की थी। यात्रा के सुरम्य प्राकृतिक दृश्यों ने बालक प्रसाद को बड़ा प्रभावित किया। अमरकंटक पर्वतमाला के बीच नर्मदा की नौका यात्रा तो उन्हें जीवनभर विस्मृत नहीं हुई। उन्होंने बाद में कलकत्ता, पुरी, लखनऊ और प्रयाग की भी यात्रा की थी। पुरी के सामुद्रिक दृश्यों ने उन्हें बड़ा लुभाया। उनकी सभी काव्य-कृतियों में प्रकृति के इस निकट साहचर्य की सुरम्य अनुभूति व्यक्त हुई है।

बनारस के क्लॉस कॉलेज में प्रसादजी ने सातवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। इसके पश्चात् घर पर ही उनकी संस्कृत, अँग्रेजी आदि की शिक्षा की व्यवस्था की गई। अध्ययन के साथ-साथ प्रसादजी को व्यायाम और खुद-सवारी में भी बड़ी रुचि थी। समस्यापूर्ति के रूप में वे काव्य-रचना भी क्रिया करते थे। जब वे बारह वर्ष के थे तभी पितृ-स्नेह से उन्हें वंचित होना पड़ा। तीन वर्ष पश्चात् ही ममतामयी माता भी संसार से बिदा ले गईं। प्रसादजी

पड़ता था पर इस ओर उनकी विशेष रुचि नहीं थी। दुकान पर बैठे-बैठे बहीखाते के रद्दी कागजों पर वे कविताएँ रचा करते थे।

माता-पिता की दुखद मृत्यु के आँसू अभी सूख भी न पाये थे कि प्रसाद जी और उनके परिवार पर एक और अनभ्र वज्रपात हुआ। ज्येष्ठ भ्राता शम्भूरत्न प्रसादजी को केवल सत्रह वर्ष की अवस्था में असहाय छोड़कर स्वर्ग सिधार गए। परिवार के भरण-पोषण का सारा भार प्रसादजी के कंधों पर आ पड़ा। अनेक विषम परिस्थितियों के बीच प्रसादजी ने अपने को घिरा पाया। बड़े भाई अपने अमीराना ठाठ-बाट के कारण बहुत-सा ऋण परिवार पर छोड़ गए थे। उधर दुनियों की स्वार्थी निगमनें प्रसादजी की जायदाद को निगलने की ताक में थीं। व्यापार भी शिथिल पड़ गया था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी प्रसादजी विचलित नहीं हुए। उन्होंने धैर्य और साहस के साथ इन सब कठिनाइयों का सामना किया। घर के क़ारोबार को सँभाल-कर अपनी कार्य-कुशलता से उसे उन्नत बनाया। परिवार का सारा ऋण चुकाया तथा परिवार की सुख और शान्ति को बनाए रखा।

इन सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी प्रसादजी सरस्वती की पुनीत आराधना को नहीं भूले। वे बराबर साहित्य-रचना में संलग्न रहे। उनके घर पर साहित्य रसिकों का जमघट लगा रहता था। इसके साथ-साथ प्रसाद जी नियमित रूप से साहित्य, दर्शन, इतिहास आदि विषयों का अध्ययन करते थे। वे नागरी प्रचारिणी सभा काशी के आर्य भाषा पुस्तकालय में भी नित्य जाते थे। उन दिनों हिन्दी संसार में द्विवेदीजी के सरस्वती पत्र की बड़ी धूम थी। प्रसादजी ने भी अपनी रचनाएँ उसमें प्रकाशन के लिये भेजीं। परन्तु वे रचनाएँ द्विवेदीजी के काव्य-सिद्धान्तों और आदर्शों की मान्यता के अनुसार न हो सकने के कारण सरस्वती में स्थान न पा सकीं। प्रसादजी इससे हतोत्साह नहीं हुए। उनके आदेशानुसार उनके भानजे श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। प्रसादजी की ही प्रेरणा से शिवपूजनसहाय जी के सम्पादकत्व में 'जागरण' पत्र का प्रकाशन हुआ। इन दोनों पत्रों का कलेवर प्रसादजी की रचनाओं से सुशोभित रहता था। इस प्रकार सरस्वती से प्रोत्साहन न मिलने पर भी प्रसादजी की प्रतिभा

निरन्तर जागरूक बनती रही और अन्त में वह हिन्दी काव्यधारा को नया मोड़ देकर ही रही। प्रसादजी प्रेमचन्दजी के 'हंस' में भी लिखते थे। 'हंस' के नामकरण और उसके प्रकाशन की योजना में प्रसादजी का प्रमुख हाथ रहा था।

'हन्दु', 'जागरण' आदि पत्रों की आर्थिक व्यवस्था का भार प्रसादजी के कंधों पर ही था। इधर उन्होंने एक मकान बनवाया जिसमें काफी व्यय हो गया था। साहित्य की ओर अधिक उन्मुख रहने के कारण वे अपने पैतृक व्यवसाय में कम ही ध्यान दे पाते थे। उनकी समस्त दैनिक चर्चा ही साहित्यिक थी। प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक वे या तो अध्ययन में रत रहते थे अथवा कवियों और लेखकों से साहित्यिक चर्चा करते रहते थे। व्यवसाय के क्षेत्र में बस उनका यही कार्य था कि कस्तूरी का व्यापारी आया तो कस्तूरी परख कर खरीद लें। भपका चढ़ा तो गुलाबजल या इत्र की देखभाल करली। वैसे प्रसादजी अपने व्यवसाय में पूर्ण दत्त थे। सुती, इत्र आदि का सामान बनाने में वे बड़े कुशल थे। फिर भी ये सब बातें उनकी रुचि के अनुकूल नहीं। साहित्य-साधना ही उनके जीवन का इष्ट थी। फल यह हुआ कि व्यवसाय की गति मन्द पड़ गई। आय कम होने लगी। इन पारिवारिक चिंताओं से प्रसादजी जीवन पर्यन्त मुक्त नहीं हो पाये। अपनी दो पत्नियों की मृत्यु उन्होंने अपनी आँखों से देखी। स्वजन, सम्बन्धियों के प्रवल आग्रह से उन्हें तीसरा विवाह भी करना पड़ा। अन्त में राज्ययक्ष्मा के भीषण रोग ने अपनी कुहेलिका में प्रसादजी के भव्य जीवन को छिपा लिया। १५ नवम्बर १९३७ अर्थात् कार्तिक शुक्ल एकादशी सं० १९९४ को प्रसादजी इस संसार में नहीं रहे। भारतेन्दु हर्षिचन्द्र के पश्चात् यह हिन्दी-जगत पर दूसरा बड़ा वज्रपात था।

प्रसादजी हर दृष्टि से हिन्दी की महान् और असाधारण विभूति थे। उनका उन्नत दमकता हुआ भव्य ललाट, गौर वर्ण, विशाल नेत्र, जिससे फूटती हुई तेजस्विता की रेखाएँ, यूनानी देवता की भाँति विशाल वक्षःस्थल, सुगठित शरीर, मादक ध्वनि, निर्लेप मुलाकृति, बस ये ही प्रसादजी थे। प्रसादजी के ऐसे असाधारण व्यक्तित्व की हर भंगिमा ऐश्वर्यमय रूप-रंगों से निर्मित थी। उनकी वेश-भूषा, उनकी आकृति, उनके व्यवहार सभी से एक ऐश्वर्यमयी

शालीनता और गरिमा टपकती थी। ढाके की मलमल का कुर्ता और शांति-पुरी घोती पहिने वाला यह व्यक्ति जीवन के रंगीन और रोमांटिक पहलू से कितना ममत्व रखता होगा यह स्पष्ट ही है। वास्तव में प्रसादजी बड़ी ही रूमानी और भावुक प्रकृति के पुरुष थे। वे बड़े सौम्य, बड़े शांत, बड़े सरल थे और अहमन्यता उनमें लेशमात्र को भी नहीं थी। दुनियाँ की भीड़-भाड़ से दूर और साहित्य-साधना ही उन्हें प्रिय थी। प्रारम्भ में प्रसादजी की साहित्य-रचनाओं को बड़ा विरोध सहना पड़ा। लोगों ने प्रसादजी पर आलोचना के तीखे प्रहार किए परन्तु प्रसादजी सदैव मौन और शांत ही बने रहे। उनके हृदय में कभी कटुता और मैल नहीं आया और न उन्होंने अपने विरोधियों को कभी प्रत्युत्तर ही दिया। प्रसादजी के मित्र भी अधिक न थे। बस साहित्य की साधना ही जैसे उनकी सच्ची सहचरी थी। संगीत से उन्हें अनन्य प्रेम था। कभी-कभी सिनेमा का भी आनन्द लेते थे। साहित्य और संगीत की भाँति पुष्प उन्हें बहुत प्रिय थे। उन्होंने अपने मकान के सामने छोटा बगीचा लगा रखा था। इसमें बैठकर विहंसते फूलों की शीसुषमा में प्रसादजी अपने को भूल जाते थे। इसी बगीचे में पाणिजात वृक्ष के नीचे एक चौकी थी जहाँ प्रसादजी बैठकर अपनी रचनाएँ सुनाते थे।

ऐसे प्रसादजी बड़े आस्तिक और धर्मनिष्ठ थे। पान को छोड़कर उन्हें अन्य कोई व्यसन ही नहीं था। वे भोंग तक नहीं पीते थे। माँस, मदिरा से उन्हें आंतरिक घृणा थी। किसी के हाथ की कच्ची रसोई खाने अथवा जूते पहिनकर जल पीने आदि के परहेज में वे दृढ़ थे। शिव के परम भक्त थे। शिव के शिवत्व के समान ही उनके जीवन का आदर्श था आनन्द की अखंड साधना। शिव जिस प्रकार हलाहल पीकर शांति और आनन्द की अखंड साधना में लीन हो गये, उसी प्रकार प्रसादजी अपने जीवन के दुःखों के कटु गरल को पीकर आनन्द की उपासना में लीन रहते थे। अपने किशोर जीवन में प्रसादजी ने माता, पिता, भाई, और पत्नी की मृत्यु देखी। नियति के निष्ठुर प्रहारों ने निरन्तर उनके जीवन के साथ खिलवाड़ किया। उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी। जीवन के इन दुःखों ने उन्हें जीवन-मरण के रहस्योद्घाटन की ओर उन्मुख किया और यही सुख-दुःख की व्याख्या

आनंद की अखंडता में लीन होती हुई प्रसादजी के साहित्य की मूल चेतना बनी। ऐसा था डा० नगेन्द्र के शब्दों में प्रसादजी का व्यक्तित्व—“शांत गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्कुरा उठा हो या फिर गहन आकाश जो भ्रंशा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा हो।”

प्रसादजी का साहित्य

प्रसादजी के इस भव्य और विराट् व्यक्तित्व की भाँति ही प्रसादजी का साहित्य है। उनकी विशाल साहित्यिक राशि को हम दो कालों में बाँट सकते हैं। सन् १९०८ से लेकर १९२५ तक के समय को हम प्रयोग काल कह सकते हैं। उर्वशी, प्रेमराज्य, सज्जन, कल्याणी, परिणय, कानन कुसुम, छाया, करुणालय, प्रेम-पथिक, चित्राधार, महाराणा का महत्त्व, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नाग यज्ञ, इसी कालकी रचनाएँ हैं। सन् १९२५ में प्रसादजी ने आँसू काव्य की रचना की। यह प्रसादजी के साहित्यिक जीवन का महत्त्वपूर्ण मोड़ है। यहीं से उनकी साहित्य कला का विकास बड़ी तीव्रगति से होता है। आँसू के पश्चात् भरना, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, आकाश दीप, कंकाल, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, तितली, लहर, इन्द्रजाल, कामायनी, काव्य और कला प्रसादजी की प्रौढ़ रचनाएँ हैं। साहित्यिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रसादजी की सभी कृतियाँ इस प्रकार हैं—

चंपू—उर्वशी, प्रेम राज्य।

काव्य—चित्राधार, करुणालय, प्रेम पथिक, महाराणा का महत्त्व, कानन कुसुम, आँसू, भरना, लहर, कामायनी।

नाटक—सज्जन, कल्याणी, परिणय, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग यज्ञ, कामना, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी।

कहानी—छाया, प्रतिध्वनि, आकाश दीप, आँधी, इन्द्रजाल।

उपन्यास—कंकाल, तितली, इरावती (अपूर्ण)।

निबन्ध—काव्य और कला।

हिन्दी-नाट्य साहित्य में प्रसाद जी का स्थान

हिन्दी नाट्य साहित्य का उद्भव और विकास

भारतीय नाट्य साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन और समृद्धिवान है। अश्वघोष, कालिदास भवभूति आदि के संस्कृत नाटक अपने कलात्मक सौंदर्य के लिए चिरख्याति प्राप्त हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में भी बड़ी उत्कृष्ट नाट्य रचनाएँ हमें प्राप्त होती हैं। हिन्दी-नाट्य साहित्य की रचना पूर्णतः आधुनिक युग की देन है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब हिन्दी साहित्य के इतिहास ने आधुनिक काल में अपने चरण रखे तभी गद्य साहित्य का बीजांकुर हिन्दी भाषा के क्षेत्र में हुआ और हिन्दी गद्य के जन्म के साथ-साथ हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास का भी श्रीगणेश हुआ।

हिन्दी गद्य साहित्य के विकास की वास्तव में यह एक उल्लेखनीय बात है कि हिन्दी गद्य की समस्त विधाओं में सबसे पहिले नाट्य साहित्य का ही विकास हुआ है। परिस्थितियाँ इसके लिये अनुकूल थीं। उन दिनों जन समाज की सांस्कृतिक लुधा को शान्त करने के लिए एक मात्र साधन रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक ही थे। मेलों-ठेलों, त्यौहारों और विवाह शादी के अवसर पर किए जाने वाले नाटकों में उस समय का जन-समाज पर्याप्त रुचि रखता था। रामलीला और रासलीला के आयोजन भारी भीड़ आकर्षित किया करते थे। फलतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी लेखक गण जब समाज में उभरती हुई नए युग की नई वाणी को अभिव्यक्त करने के लिए देश को अपनी दुरवस्था के प्रति सचेत करने के लिए गद्य साहित्य की रचना की और प्रवृत्त हुए तब उन्हें गद्य साहित्य की अन्य सब विधाओं की अपेक्षा नाट्य साहित्य की रचना ही सर्व सुलभ प्रतीत हुई। नाट्य कला का ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा ये लेखक गण

शिष्ट और साधारण जन समाज के अधिक से अधिक निकट पहुँच सकते थे। क्योंकि नाटक, साहित्य के अन्य अङ्गों की अपेक्षा मानव जीवन और समाज से कहीं अधिक घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। यही वास्तव में जन जीवन का सच्चा साहित्य है। लोकहित और लोकरंजन की अद्भुत क्षमता ही नाट्य कला की मुख्य विशेषता है। साहित्य के अन्य अङ्ग एक साथ एक बैठक में एक निश्चित समय के भीतर इतने भारी जन समूह को आनन्द मग्न नहीं कर सकते जितने भारी जन समूह को नाटक अपनी कला द्वारा रस स्थापित कर सकता है।

इन्हीं सब कारणों से हिन्दी नाट्य साहित्य का जन्म और विकास प्रारम्भ से ही बड़ी तीव्र गति से हुआ। सन् १७०० में ही रीवां नरेश स्व० शिवसिंह जूने आनन्द और रघुनन्दन नाटक की रचना की थी। यह पद्य-गद्य मिश्रित था और इसकी भाषा ब्रज थी। हिन्दी का यह प्रथम मौलिक नाटक कहा जाता है। इससे पूर्व भी हृदयराम कृत 'हनुमानाटक' प्राणचन्द चौहान कृत 'रामायण महानाटक' तथा जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्त सिंह कृत 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' आदि अनूदित हिन्दी भाषा के नाटक प्रकाश में आ चुके थे। सन् १८५६ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र जी द्वारा 'नहुष' नाटक की रचना हुई और इसके बाद सन् १८६१ में राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के संस्कृत नाटक 'शाकुन्तलम्' का हिन्दी अनुवाद किया जो साहित्य के क्षेत्र में काफी लोकप्रिय हुआ। साहित्य प्रेमियों और लेखकों का ध्यान नाट्य रचना की ओर आकर्षित हुआ। इधर बँगला साहित्य में नाटकों की बड़ी धूम थी। बँगला रंगमंच पर अनेक सुन्दर नाटकों का अभिनय भी हो चुका था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी बँगाल यात्रा में जब बँगला नाटकों का रंगमंच पर प्रदर्शन देखा तब वे बड़े प्रभावित हुए। साथ ही उन्हें अपनी हिन्दी भाषा की विकलांग दशा पर बड़ा क्षोभ भी हुआ। बँगाल यात्रा से लौटने पर उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्धिवान बनाने का बीड़ा उठाया और सन् १८६६ में बड़ी लगन के साथ जब वे हिन्दी साहित्य साधना की ओर प्रवृत्त हुए तभी हिन्दी-नाट्य साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

भारतेन्दु काल—(१८६७-१९०५) भारतेन्दु युग ही इस प्रकार हिन्दी नाट्य साहित्य के शिलान्यास का काल है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व जिन नाटकों की रचना हुई उनका नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से ही वे अपनी महत्ता रखते हैं। नाट्य साहित्य का वास्तविक अभ्युदय तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ही साथ हुआ। अपने मौलिक सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेरनगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्, सती प्रताप, प्रेमयोगिनी और अनूदित मुद्राराक्षस, धनजय विजय, रत्नावली नाटिका, कपूर मंजरी, विद्या सुन्दर, भारत जननी, पाखण्ड बिडम्बना, दुर्लभ बन्धु नाटकों की रचना कर जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में स्वतन्त्र नाट्य कला का निर्माण किया वहीं परवर्ती नाट्य साहित्य का उचित पथ प्रदर्शन भी किया। अपनी नाट्य रचना में उन्होंने जहाँ संस्कृत नाट्य साहित्य को आधार बनाया वहीं पाश्चात्य नाट्य साहित्य से भी प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक और रोमांटिक सभी धरातलों पर सभी प्रकार के नाटक लिखे। अपने नाटकों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने देश के पुरातन गौरव का उद्घाटन किया। अंग्रेज भक्तों, देश द्रोहियों और धर्मदोंगियों पर तीखे प्रहार किए तथा लोक जीवन की आशा और आकांक्षा को व्यक्त किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही प्रेरणा ग्रहण कर उनके समकालीन लेखकों ने नाट्य रचना की। श्री निवासदास (रणधीर और प्रेम मोहिनी, तप्तासंवरण, संयोगिता स्वयंवर) राधाकृष्णदास (दुखिनी वाला, पद्मावती, महाराणा प्रताप) अम्बिकादत्त व्यास (ललिता नाटक) तोताराम वर्मा (विवाह बिडम्बन नाटक) प्रताप नारायण मिश्र (भारत दुर्दशा रूपक, कलिकौतुक रूपक) बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (भारत सौभाग्य) खंग बहादुरलाल (भारत ललना) आदि लेखकों ने ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक और प्रेममूलक नाटकों की रचना की। इन मौलिक नाट्य रचनाओं के साथ-साथ बंगला संस्कृत, अंग्रेजी और मराठी से भी अनेक नाटकों का अनुवाद किया गया। लाला सीताराम ने कालिदास के 'मालविकाग्नि मित्र' का हिन्दी में अनुवाद किया। भवभूति कृत उत्तर रामचरित, मालती माधव, महावीर चरित्र के भी

अनुवाद हुए। इसके अतिरिक्त वेणी संहार, मृच्छकटिक, रत्नावली और नागानन्द के अनुवाद हुए। बँगला से माइकेल मधुसूदन कृत पद्मावती, कृष्णाकुमारी के बड़े सफल और सुन्दर अनुवाद किए गए। अँग्रेजी से तो शेक्सपीयर कृत प्रायः सभी प्रमुख नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया।

इन मौलिक और अनुवादित नाटकों के साथ भारतेन्दु काल में तत्कालीन सामाजिक जीवन की दुरवस्था का यथार्थ चित्र खींचते हुए तथा सामाजिक कल्याण की अवरोधक शक्तियों पर तीखे व्यंग और हास, परिहास को लेकर बड़े सुन्दर प्रहसन भी इन लेखकों द्वारा लिखे गए। बालकृष्ण भट्ट ने 'शिक्षा दान', 'जैसा काम वैसा परिणाम' राधाचरण गोस्वामी ने 'लोग देखें तमाशा' 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण में' तथा 'बूढ़े मुंह मुँहासे' प्रहसन लिखे।

भारतेन्दु युग का यह नाट्य साहित्य यद्यपि कलात्मक और साहित्यिक दृष्टि से विशेष मूल्यवान नहीं था। नाट्यकला के सिद्धान्तों के अनुसार उनमें अनेक त्रुटियाँ और दोष विद्यमान थे। भाषा का रूप व्यवस्थित न था। कथोपकथनों में अभिनयोचित चुस्ती और मार्मिकता न थी। सभी नाटक उपदेश तत्व की प्रधानता लिए हुए थे। नाटक में पात्रों का चरित्र नहीं उभर पाता था। पात्र प्रायः मानवीय धरातल से ऊपर उठे हुए होते थे। फिर भी इन सब दुर्बलताओं के होते हुए भारतेन्दुकालीन नाटकों ने हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास के प्रारंभिक स्वरूप को सशक्त गति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। उनमें उस समय की व्यापक सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति हुई। कथावस्तु का क्षेत्र अधिक व्यापक और प्रगतिशील बना। यही नहीं भारतेन्दु काल में ही संस्कृत नाट्यशैली के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्यशैली का समावेश भी हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में हुआ।

संधिकाल का नाट्य-साहित्य (१९०५-१९१५)—भारतेन्दुकाल में जिस उत्साह और असाधारण गति से नाटक साहित्य का निर्माण हुआ, परवर्ती काल में वह बात दृष्टिगोचर नहीं होती। स्व० जयशङ्करप्रसादजी के आविर्भाव काल तक विकास की यह गति बड़ी धीमी रही। भारतेन्दु से लेकर प्रसाद जी तक दस वर्षों का यह काल संधि युग कहा जा सकता है। इस काल

में हिन्दी नाट्य-साहित्य के विकास की धीमी गति के अनेक कारण थे । प्रथम तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की असमायिक मृत्यु ने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य की समृद्धि को गहरा आघात पहुँचाया । भारतेन्दु जैसी नेतृत्वकारी शक्ति के अभाव में फलतः हिन्दी गद्य साहित्य विशेषतः नाटक साहित्य भली भाँति पल्लवित और पुष्पित न हो सका । इधर पारसी कम्पनियों का प्राबल्य और हिन्दी रंगमंच के अभाव से जन-सामान्य का आकर्षण हिन्दी नाटकों के प्रति कम हो चला था । पारसी नाटक कंपनियों द्वारा जिन नाटकों का प्रदर्शन हिन्दी भाषी जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था वह सांस्कृतिक, साहित्यिक और सामाजिक सभी दृष्टियों से बड़े निम्न स्तर का था । शकुन्तला नाटक के नायक दुष्यन्त को कमर पर हाथ रखकर नचाया जाता था । फलतः शिष्ट समाज पारसी नाटक कम्पनियों द्वारा अभिनीत ऐसे नाटकों को देखना पसन्द नहीं करता था । हिन्दी के पास अपना कोई ऐसा रंगमंच नहीं था जहाँ उच्चकोटि के कलात्मक और साहित्यिक नाटक खेले जा सकें । नाट्य-साहित्य के विकास के लिए रंगमंच पर नाटकों का अभिनीत होना आवश्यक था क्योंकि केवल पठन पाठन के लिए नाटकों की अपेक्षा कथा-साहित्य जन-सामान्य के लिए अधिक रुचिकर था । यही कारण है कि इस काल में मनोरंजन प्रधान कथा साहित्य की रचना बड़ी द्रुत गति से हुई । फिर भी पं० बदरीनाथ भट्ट ने चन्द्रगुप्त, दुर्गावती, कुरुवन दहन आदि ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक लिखकर तथा मिश्र बन्धुओं ने नेत्रोन्मीलन के रूप में सामाजिक नाटक की रचना कर और लोचनप्रसाद पांडेय ने प्रेम प्रशंसा नाटक द्वारा हिन्दी नाट्य-साहित्य की परम्परा को जीवित बनाए रखा । प्रहसनों में पं० बदरीनाथ भट्ट कृत 'चुंगी की उम्मेदवारी' अधिक प्रसिद्ध हुआ । इन मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेजी और बँगला के मौलिक नाटकों के भी हिन्दी में अनुवाद हुए । इस संधिकाल के नाट्य साहित्य में बहुत से भारतेंदुकालीन दोषों का निराकरण हुआ और हिन्दी नाट्यकला के क्षेत्र में अनेक मौलिक तत्त्वों का समावेश हुआ ।

प्रसाद काल—(१९१५-१९३४) इसी बीच नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में जयशङ्करप्रसादजी का आविर्भाव हुआ । प्रसादजी हिन्दी नाट्य के क्षेत्र में युग

प्रवर्तक कलाकार का रूप लेकर अवतरित हुए। अपने नाट्य-साहित्य के सृजन द्वारा उन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य की टूटती हुई परम्परा को अनन्य बल प्रदान किया।

यह युग व्यापक राष्ट्रीय चेतना और जन जागरण का युग था। आर्य-समाज के आन्दोलनों के प्रभाव स्वरूप यह विश्वास जनता में व्याप्त हो चला था कि जो कुछ सभ्यता और संस्कृति का समुन्नत स्वरूप है वह सब हमारे भारतीय अतीत के स्वर्णिम इतिहास में निहित है। इधर राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भी भारतीय मानस को अपने भूले हुए गौरव की ओर उन्मुख किया। फलतः अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान की समस्याओं को सुलभाते हुए तथा मंगल-मय भविष्य की कामना लिए हिन्दी के साहित्यकार साहित्य की रचना करने लगे। काव्य के क्षेत्र में भारतीय महापुरुषों के चरित्रों से सम्बन्धित जयद्रथ बध, प्रियप्रवास, साकेत, सिद्धराज, आदि ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों की रचना हुई तो नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में यह कार्य प्रसादजी ने अपने हाथों में लिया। उन्होंने बड़े परिश्रम पूर्वक भारतीय इतिहास का मंथन किया। उनके इस गंभीर अध्ययन का परिचय हमें उनके ऐतिहासिक नाटकों में मिलता है। अपने इन ऐतिहासिक नाटकों में जब उन्होंने भारतीय इतिहास के धूमिल रूप को पुनः प्रकाशवान बनाया वहीं वर्तमानकाल की समस्याओं के निराकरण और भावी मानवीय संस्कृति के स्वस्थ निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त की।

राष्ट्रीय चेतना के इस व्यापक स्वरूप तथा विजातीय सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क से उद्बुद्ध नव्य चेतना और जीवन दर्शन की अभिव्यक्त करते हुए बीसवीं शताब्दी का यह काल हिन्दी भाषा और उसके साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल था। भावगत और रूपगत सभी दृष्टियों से हिन्दी साहित्य बड़ा पुष्ट और समृद्धिशाली रूप ले रहा था। कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द जैसे युगान्तरकारी व्यक्तित्व का आविर्भाव हो चुका था, जिन्होंने पहिली बार साहित्य की इस विधा को तिलिस्म की भूल-भुलैयाँ से निकाल-कर जन-जीवन के यथार्थ धरातल पर ला खड़ा किया था। अवास्तविक घटनाओं के माया जाल से मुक्तकर मानव-चरित्र से उनका सम्बन्ध जोड़ा। प्रेमचन्द

के साथ चरित्र-चित्रण-प्रधान कथा साहित्य की परम्परा का विकास हुआ। काव्य के क्षेत्र में छायावादी और रहस्यवादी काव्यधारा के रूप में हिन्दी कविता ने अभिनव रूप धारण किया। इस काव्यधारा में भाव और शैली का बड़ा ही कलात्मक और उदात्त रूप प्रगट हुआ। प्रसादकालीन नाट्य साहित्य भी हिन्दी साहित्य के इसी बहुमुखी समृद्धि का सबल प्रतीक बनकर आया।

प्रसाद काल से पूर्व हिन्दी का नाट्य-साहित्य, साहित्यिक दृष्टि से उच्च-कलात्मक धरातल पर स्थित नहीं था। भाव और शैली दोनों ही दृष्टियों से उसका स्तर अधिक उच्चकोटि का नहीं था। पात्रों का चारित्रिक विकास, मानसिक और बाह्य द्वंद, संघर्ष आदि महत्त्वपूर्ण नाटकीय तत्वों का समावेश उनमें नहीं हो पाया था। प्रसादकालीन नाट्य-साहित्य इन सब बातों को लेकर चला। आन्तरिक और बाह्य विधान के अनेक नए परिवर्तनों से वह समन्वित था। स्वगत भाषण, नांदी, मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि प्राचीन नाटकीय परम्परा उठादी गई। लम्बे-लम्बे भाषणों का महत्त्व कम कर दिया गया। रंगमंच पर युद्ध, हत्या, आदि के दृश्य दिखलाए जाने लगे। कथा-वस्तु स्वाभाविक और पात्रों का चरित्र अधिक मानवीय रूप लेकर सामने आया। सब कुछ मिलाकर इस काल के नाट्य-साहित्य पर अंग्रेजी के प्रख्यात नाटककार शेक्सपीयर और बंगला के द्विजेन्द्रलालराय की नाट्य शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

राज्यश्री, विशाल, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी प्रसादजी के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटक थे। इन नाटकों में काव्य और कल्पना का, इतिहास और राष्ट्रीयता का, प्राचीनता और अर्वाचीनता का अपूर्व समन्वय है। उनके नाटक चरित्र-चित्रण प्रधान हैं और नाट्य-कला की बड़ी उदात्त भावभूमि को लिए हुए हैं। प्रसाद जी के ही साथ-साथ हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद शर्मा मिलिन्द, गोविन्दबल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, पांडेय बेचन शर्मा उग्र ने अपने मौलिक नाटकों द्वारा हिन्दी नाट्य साहित्य की अभिवृद्धि की। प्रेमीजी ने रत्नाबन्धन, स्वप्न भंग, आहुति आदि ऐतिहासिक नाटकों की रचना की तथा उदयशंकर भट्ट ने 'सगर विजय', 'मत्स्यगंधा' और 'विश्वामित्र' आदि

पौराणिक नाटकों की रचना की। पौराणिक आख्यानों को लेकर गोविन्दबल्लभ पन्त का 'वरमाला' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उदयशंकर भट्ट का 'विक्रमादित्य', मिलिन्दजी का 'प्रताप प्रतिज्ञा', गोविन्ददास का 'हर्ष', 'शशिगुप्त' भी सुन्दर ऐतिहासिक नाटक हैं।

इन मौलिक ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त प्रसादकाल में सुन्दर प्रहसनों की भी रचना हुई। श्री जे० पी० श्रीवास्तव कृत 'दुमदार आदमी', 'उलटफेर', 'मरदानी औरत', गोविन्दवल्लभ पन्त कृत 'कंजूस की खोपड़ी', पांडेय वेचन शर्मा उग्र कृत 'चार बेचारे' और सुदर्शन कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि प्रहसन उल्लेखनीय हैं। नाटकों के अनुवादों की परम्परा भी इस काल में विकसित हुई। अंग्रेजी नाटककारों में शेक्सपीयर के ओथैलो नाटक का अनुवाद किया गया। अन्य प्रसिद्ध नाटककार गाल्सवर्दी के 'स्ट्राइक' 'जस्टिस' और 'सिल्वर बासन' का अनुवाद क्रमशः हड़ताल, न्याय और चाँदी की डिबिया नाम से हुआ। रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार महात्मा टाल्स्टाय के तीन नाटकों के अनुवाद, कलवार की करतूत, अंधेरे में उजाला और जिन्दा लाश के नाम से प्रकाशित हुये। जे० पी० श्रीवास्तव ने फ्रांसीसी नाटककारों के कुछ प्रहसनों का अनुवाद किया। प्रसिद्ध बँगला नाटककार द्विजेन्द्र लाल-राय के प्रायः सभी नाटकों का अनुवाद किया गया।

आधुनिक काल (१९३४.....) — प्रसाद काल के पश्चात् हिन्दी नाट्य साहित्य ने नई दिशा में अपने चरण रखे हैं। प्रसाद कालीन नाट्य साहित्य वस्तुतः ऐतिहासिक और पौराणिक धरातल पर ही स्थित था। उसका रूप भी आदर्शवादी था। अभिनेयता की ओर नाटककारों का ध्यान कम था, इसीलिए पात्रों की वेशभूषा और रंगमंच के वातावरण को लेकर अभिनयात्मक संकेत नाटककार की ओर से कम ही प्रस्तुत किए जाते थे। नाटकीय शैली में रोमांटिक भावुकता का प्राबल्य था। आधुनिक काल के नाटककार नाट्यकला की इस लीक को छोड़कर नए मार्ग पर चले। उन्होंने ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों की अपेक्षा वर्तमान सामाजिक समस्याओं को अधिक महत्त्व प्रदान किया। भूत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान के सम्बन्ध में अधिक बात की। पात्रों के चरित्र-चित्रण को अधिक से अधिक मनोवैज्ञानिक

रूप प्रदान किया गया तथा इसके लिए फ्राइड के मनो-विश्लेषण शास्त्र का अधिक से अधिक सहारा लिया गया। मानव मन की सूक्ष्म-वृत्तियों के विश्लेषण पर विशेष बल दिया गया। नाटक में व्यंजित भावनाओं की बौद्धिक ढङ्ग से समीक्षा प्रस्तुत की गई। इस प्रकार कल्पना और भावुकता का आधुनिक काल के नाट्य साहित्य में कोई स्थान नहीं रहा। आदर्श की अपेक्षा यथार्थ को महत्ता प्रदान की गई और आधुनिक नाटककार ऐतिहासिक तथा पौराणिक गाथाओं के क्षेत्र से निकलकर वास्तविक जीवन की धरती पर उतर आए। इसीलिए हमारे सामाजिक जीवन की नारी समस्या, हिन्दू-मुस्लिम एकता, जाति समस्या, विवाह समस्या, अलूत समस्या और आर्थिक समस्याओं को लेकर आधुनिक काल में अनेक नाटकों की रचनाएँ की गईं।

आधुनिक नाट्य साहित्य से पूर्व नाटकों के पात्र प्रायः प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति होते थे। उनका चरित्र भी आदर्शवादित के रंग से रंगा होता था। परन्तु आधुनिक काल के नाटककारों ने जिन पात्रों को चुना वे हमारे सामाजिक जीवन से ही सम्बन्धित हमारे चिर-परिचित पात्र थे। फलतः पात्रों का चरित्र चित्रण अधिक स्वाभाविक, सजीव और यथार्थ होने लगा।

नाटकीय शैली में पर्याप्त परिवर्तन हुए। रंगमंच की प्रत्येक बात का निर्देश नाटककार की ओर से किया जाने लगा। कथोपकथनों से पद्यात्मक अंश विलुप्त हो गए। पात्रों की भाषा ने सरल स्वाभाविक रूप लिया और उनका पारस्परिक वार्त्तालाप भी उसी प्रकार का होने लगा जैसा कि हम अपने प्रतिदिन के जीवन में करते हैं।

सब कुछ मिलाकर आधुनिक काल का हिन्दी नाट्य साहित्य एक ओर जहाँ फ्राइड के मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव को लेकर चला है वहीं पाश्चात्य नाटककार इब्सन और शा के समस्यामूलक नाटकों से प्रभावपन्न प्रवृत्तियों की भावभूमि को अपना आधार बनाकर चला है। इधर प्रगतिवादी मान्यताओं के अनुसार साहित्य रचना करने वाले प्रगतिवादी नाटककार मार्क्स की भौतिकवादी विचारधारा को नाटकों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं।

इब्सन और शा से प्रभावित समस्यामूलक नाटकों की परम्परा को हिन्दी

नाट्य साहित्य में विकसित करने का श्रेय श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र को है। इस दृष्टि से 'सिन्दूर की होली', 'राक्षस का मन्दिर', 'राजयोग', 'आधी रात' उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। वेचन शर्मा उग्रजी का 'डिक्टेटर', 'आवारा', गोविन्दबल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी', सेठ गोविन्ददासजी का 'विकास', 'सेवापत्', प्रकाश, उपेन्द्रनाथ अश्क का 'स्वर्ग की भूलक', हरिकृष्ण प्रेमी का 'छाया तथा बन्धन' आदि नाटक भी समस्यामूलक नाटकों में गिने जा सकते हैं। सामाजिक नाटकों में सेठ गोविन्ददास कृत 'दुःख क्यों', 'महत्त्व किसे', 'बड़ा पापी कौन', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'कैद', 'भूलक', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गुड़िया का घर' महत्त्वपूर्ण हैं। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत सम सामयिक विषयों पर भी नाट्य रचना हुई। सेठजी का 'पाकिस्तान' और 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन समस्यामूलक, सामाजिक और प्रगतिवादी नाट्य साहित्य के साथ-साथ ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों को लेकर भी अनेक नाटकों की रचना हुई। सेठ गोविन्ददास का कर्ण, गोविन्दबल्लभ पन्त का राजमुकुट, लक्ष्मीनारायण मिश्र का गरुडध्वज, वत्सराज, वृन्दावनलाल वर्मा का पूर्व की ओर, भौंसी की रानी, रामकुमार वर्मा का शिवाजी आदि नाट्य रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक काल के नाट्य साहित्य की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति हिन्दी एकांकियों का विकास और उनका प्रचलन है। कला विधान की दृष्टि से हिन्दी एकांकी पाश्चात्य नाट्य साहित्य से प्रभावित हैं, फिर भी उसके विकास की परम्परा के सूत्र भारतेन्दु युग के छोटे-छोटे प्रहसनों में ढूँढ़े जा सकते हैं। प्रसादजी की 'एक घूँट' रचना में हमें एकांकी कला का सुंदर निखार मिलता है। आधुनिक एकांकीकारों में डा० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र, उदयशङ्कर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शिक्षा संस्थाओं और सांस्कृतिक आयोजनों के अवसर पर हिन्दी रंगमंच की बढ़ती हुई माँग के कारण हमारा एकांकी साहित्य काफी लोकप्रिय बनता जा रहा है।

नाट्य साहित्य के विकास में प्रसादजी का स्थान

हिन्दी नाट्य साहित्य के उद्भव और विकास की इस कहानी से यह सर्वथा स्पष्ट है कि हिन्दी नाट्य साहित्य को पल्लवित और पुष्पित बनाने में श्री जयशंकर प्रसादजी का योगदान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण रहा है। वे वस्तुतः हिन्दी नाट्य साहित्य के युग प्रवर्तक कलाकार हैं। उन्होंने पहिली बार हिन्दी नाट्य साहित्य को साहित्यिक और कलात्मक रूप प्रदान कर उसकी एक विशिष्ट परम्परा को जन्म दिया है। भारतेन्दु के पश्चात् जब हिन्दी नाट्य साहित्य मौलिक नाटकों के अभाव में दीन-हीन था, प्रसादजी ने अपने मौलिक नाटकों की देन से उसे सम्पन्न बनाया। इन नाटकों में भारतीय सांस्कृतिक चेतना की जो ऊँची उठान है, उसके स्वर्णिम इतिहास का जो प्रखर आलोक है, काव्य और कल्पना का जो विराट सौन्दर्य है, दर्शन और चिन्तन की जो गहराई है, वह प्रसादजी से पहिले और बाद के नाट्य साहित्य में दृष्टिगोचर ही नहीं होती। सच पूछा जाय तो हिन्दी नाट्य साहित्य के क्षेत्र में, इतिहास की पृष्ठभूमि का आधार लेकर कविता के रोमांटिक वातावरण से नियोजित, कल्पना और भावुकता से मंडित, आदर्शवादिता की तूलिका से चित्रित पाश्चात्य शैली के शरीर और भारतीय नाट्य शैली की आत्मा से समन्वित, हिन्दी नाट्य साहित्य की एक विशिष्ट परम्परा को जन्म देने का श्रेय प्रसादजी को ही है। प्रसाद काल के पश्चात् भी जिन ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई उन पर प्रसादजी की नाट्य शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी एकांकी साहित्य के जन्मदाता भी प्रसादजी ही हैं। उनकी 'एव घूँट' रचना में आधुनिक एकांकी कला के सभी तत्त्व निहित हैं। एकांक कला की दृष्टि से निस्संदेह यह रचना बड़ी कलात्मक और सुन्दर है।

इसमें संदेह नहीं कि भारतेन्दु के पश्चात् प्रसादजी हिन्दी नाट्य साहित्य के दूसरे महान् कर्णधार थे। इसीलिए हिन्दी नाट्य साहित्य की द्वितीय उत्थान धारा को हम प्रसाद काल के नाम से अभिहित करते हैं। भारतेन्दु का व्यक्तित्व जहाँ अपने काल की नाट्य साधना पर छाया हुआ है, सर्भ नाटककार उनसे प्रेरणा ग्रहण कर चले हैं, वहाँ प्रसाद काल में यह बात नहीं

ऐसे कथानकों का निर्माण किया है जो हमारे देश के सांस्कृतिक गौरव का भव्यतम रूप रख सके हैं। महाभारत युद्ध के पश्चात् से लेकर हर्ष के समय तक का युग हमारा अतीत का स्वर्ण काल है। बीच में बौद्धकाल, गुप्तकाल, मौर्यकाल ऐसे काल हैं जिनमें भारतीय गौरव चरमरूप को प्राप्त हुआ है। प्रसाद जी के नाटकों के सभी कथानक इन्हीं कालों से सम्बन्धित हैं। उनमें हमारे वर्तमान जीवन की समस्याएँ प्रतिबिम्बित हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त नाटकों में राष्ट्रीयता और देश प्रेम का भव्य आदर्श है। प्रबुद्ध राष्ट्रीयता की गूँज लिए चाणक्य के इन शब्दों में हमारी आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर तीखे व्यंग हैं, मालव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।” इसी प्रकार “आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे” में हमारी आज की हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश है। ध्रुवस्वामिनी में नाटक नारी जागरण की बड़ी सशक्त भावना मुखरित हुई है। चरित्र-चित्रण पर भी प्रसाद जी के देश प्रेम की गहन छाप है। देवकी, देवसेना, अलका, मालविका, वासवी नारियों के ही चित्र नहीं है, उन देवियों के चित्र हैं जिनके कठोर बलिदान भी परिवार, समाज और देश की सुख शान्ति के लिए फूल से कोमल हैं। गौतम, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, भारत की वे दिव्य विभूतियाँ हैं जिन्होंने संघर्ष के काल में देश की बागडोर अपने हाथों में ली और अपने देश के गौरव की छाप विदेशियों के हृदय पर अंकित की।

देश-प्रेम की भावना वस्तुतः प्रसाद जी में इतनी तीव्र है कि इसको प्रगट करने में उन्होंने कथावस्तु के स्वाभाविक विकास का भी ध्यान नहीं रखा। विदेशियों द्वारा भारत गौरव के गुणगान के लिए उन्होंने दृश्य के दृश्य रच डाले हैं जो नाटकों के वस्तुविन्यास को शिथिल और अस्वाभाविक बनाते हैं।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति का जो भव्य आदर्श प्रस्तुत किया है वह केवल कल्पना प्रसूत नहीं बरन् वास्तविकता के ठोस धरातल पर स्थित हैं यह प्रमाणित करने के लिए उन्होंने इतिहास का बहुत अधिक सहारा लिया है। इसीलिए उनके सभी नाटक ठोस ऐतिहासिक रस

से अनुप्राणित हैं। उनकी इस इतिहास प्रियता ने कहीं-कहीं नाटकों के स्वाभाविक विकास में व्याघात उत्पन्न किया है। इतिहास के भार से दबी उनकी कल्पना स्वतंत्र गति से नहीं उड़ सकी है। समकालीन वातावरण उपस्थित करने के लिए उन्हें निरर्थक दृश्यों की योजना करनी पड़ी है।

प्रसाद के नाटकों की सबसे प्रमुख विशेषता उनका काव्यत्व है। उनके कवि व्यक्तित्व का रोमांटिक दृष्टिकोण ही उनके नाटकों की सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है। उन्होंने अपने कथानक वर्तमान की विभीषिका से न चुनकर पुरातन के स्वर्ण लोक से लिए हैं। पात्र भी प्रसाद जी के भावुक अधिक हैं और इसीलिए वे कविता में बातचीत करते हैं। नाटकों की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट रहती हैं। इन नाटकों के कोमल गीत उनके काव्य साहित्य की श्रमर सम्पदा हैं। नगेन्द्र जी ने उचित ही कहा है—“वस्तुचयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव सभी में कविता का रंगीन स्पंदन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर खंडों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया है।”

प्रसाद जी के नाटकों में उनकी दार्शनिकता और चिंतन की गहरी छाप है। नियति के निष्ठुर व्यंग और दुःखमय जीवन की करुणा ने जिस प्रकार प्रसाद जी को दार्शनिक बना दिया है वैसे ही प्रसाद जी के पात्र भी हैं। पारस्परिक वार्त्तालाप में अपने जीवन के सुखदुःख की बातें करते हुए वे दार्शनिकों का सा रूप ले लेते हैं। अजातशत्रु का बिम्बसार तो इसका स्पष्ट प्रतीक है। परन्तु यह दार्शनिकता प्रसाद जी की नाट्य शैली की सहज प्रकृत वस्तु नहीं है, बल्कि नाटककार द्वारा बाह्य रूप से आरोपित है। यह आरोपण नाटककार की स्वयं की प्रकृति और दार्शनिक व्यक्तित्व के कारण हुआ है। जीवन की विषमता ने प्रसाद जी को कठोर नियतिवादी बना दिया था इसीलिए प्रसाद जी के पात्र भी नियतिवाद की दुहाई देने लगते हैं। प्रसाद जी के इस नियतिवाद ने पात्रों के व्यक्तित्व को भी दुहरा रूप दे दिया है। एक तो उनका निजी रूप, दूसरा नाटककार सृजित कृत्रिम। परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ है और न प्रसाद जी के पात्र प्रारम्भ से ही दार्शनिक रूप लेकर आते

हैं। नियति के खिलवाड़ और आपत्तियों के बीच ही वे दार्शनिकों के समान बातें करने लगते हैं।

प्रसाद जी के सभी नाटक चरित्र प्रधान हैं। चरित्र प्रधान इसलिए कि उनके पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व ही नाटकों की घटनाओं तथा परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। नन्द के प्रति चाणक्य की प्रतिशोध भावना तथा सुवासिनी के प्रणय द्वन्द्व को लेकर चन्द्रगुप्त की अनेक घटनाओं का निर्माण होता है। इस प्रकार इन नाटकों के सभी पात्र अपना स्वतंत्र एवं प्राणवान व्यक्तित्व रखते हैं। नियति से प्रभावित होते हुए भी वे उसके खिलौने मात्र नहीं, हैं वरन् सच्चे अर्थों में कर्मवीर हैं। कथासूत्र का विकास ही नहीं अपितु पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व से स्वयं उनके चरित्र का विकास भी होता है। भर्ताक, सर्वनाग, आम्भीक, शान्तिदेव, जनमेजय अपने हृदय की सत् और असत् प्रवृत्तियों से द्वन्द्व करते हुए गतिशील होते हैं और सत् को ग्रहण करते हैं। सत् और असत् प्रवृत्तियों का ही नहीं सत् प्रवृत्तियों का पारस्परिक द्वन्द्व भी पात्रों के चरित्र विकास का कारण बनता है। चाणक्य और देवसेना दोनों ही के चरित्र में लोकहित और प्रणय के बीच द्वन्द्व की सृष्टि हुई है। प्रसाद जी के विरुद्ध, शान्त भिक्षुक, सुवासिनी और विशाख पात्र ऐसे हैं जो घटनाओं के घात प्रतिघात के बीच जीवन के आदर्शों की ओर कदम बढ़ाते हैं।

प्रसाद जी के प्रायः सभी पात्र चरित्र की विविधता लिए हुए नहीं हैं। उनमें सर्वत्र एकरूपता है। वे ऐसी जटिल प्रकृति के पुरुष नहीं होते जिनमें प्रेम, दया, क्रोध, घृणा सभी कुछ होता है। जो हँसते हैं, रोते हैं, गाते हैं। इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने चरित्र-चित्रण में मानव चरित्र के केवल एक ही अङ्ग को स्पर्श किया है। सिंहरण केवल वीर है युद्ध करना जानता है, कभी-कभी प्रेम कर लिया करता है वरन् इससे आगे उसके चरित्र की कोई अन्य भंगिमा नहीं है। ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त, आदि से लेकर अन्त तक अपनी का पुरुषता को ही प्रगट करता है। वास्तव में एकांगी-चरित्र चित्रण के कारण चरित्र विकास में कुरूपता ही बनी रहती है। जो पात्र प्रारम्भ में जैसे होते हैं, मध्य और अन्त में प्रायः वैसे ही बने रहते हैं। गुण एवं वृत्ति के साम्य के

कारण उनके बहुत से भिन्न-भिन्न नाटकों के पात्र एक ही कोटि के प्रतीत होते हैं। गीतम, दांड्यायन, वेदव्यास के चरित्रों से यह बात स्पष्ट है।

चरित्र-चित्रण में एकरूपता होने पर भी प्रसाद जी के नाटकीय पात्रों में विविधता है। उनमें जीवन के रहस्यों को सुलझाने वाले तत्त्ववेत्ता आचार्य और दार्शनिक हैं, जीवन संग्राम में संघर्ष रत साहसिक सैनिक हैं, प्रणय में अनुरक्त युवक हैं, राजनीति के दाँव पेंच सिखाने वाले कूटनीतिज्ञ हैं। उनमें कुकर्मी, नर पिशाच हैं और त्याग, दया, क्षमा की विभूतियाँ भी हैं। सच्ची प्रेमिकाएँ हैं, स्नेहमयी माताएँ हैं, महत्त्वाकांक्षिणी महिलाएँ हैं और अपने निस्पृह बलिदान से नाटक में करुणा का स्रोत बहाने वाली फूल सी सुकुमारियाँ हैं।

पुरुष पात्रों की अपेक्षा प्रसाद जी की नारी पात्रों के चरित्र निर्माण में अधिक सफलता मिली है। नारी हृदय की कोमल और कुटिल हर भंगिमा को उन्होंने उभारा है। वे एक ओर जहाँ अपनी करुणा, त्याग, उत्सर्ग, प्रेम और आत्मसमर्पण से स्वर्ग का सृजन करती हैं वहीं उनके हृदय का स्वार्थ, क्रूरता और विलासता की आकांक्षा गृह, समाज और देश के विनाश का कारण बनती हैं। फलतः देवसेना, मल्लिका, राज्यश्री, देवकी और ध्रुव-स्वामिनी आदि अपने आदर्श नारी पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी ने संयम, त्याग, प्रेम और नारीत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया है वह बड़ा भव्य है। पुरुष पात्र इन नारी पात्रों के सम्मुख टिक ही नहीं पाते।

समग्र रूप से पात्रों के चरित्र-चित्रण में आदर्शवाद की छाप है। नाटक में, पात्रों के चरित्र तथा परिस्थितियों के बाह्य जगत में सत् और असत् का जो द्वन्द्व चलता है वह अन्त में असत् पर सत् की विजय रूप में परिणित होता है और इस प्रकार अशुभ पर शुभ की विजय जो भारतीय आदर्श है उसकी प्रतिष्ठापना होती है। नाटककार घटनाओं और पात्रों के वास्तविक रूप को ही सामने रखकर चुप नहीं रह जाता वरन् इससे भी आगे करुणा, उत्सर्ग, त्याग और बलिदान का संदेश देता है। वह अपने आदर्शों से इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग बनाने की कल्पना करता है। इस प्रकार प्रसाद जी अपने नाटकों में आदर्शवादी हैं।

चरित्र-चित्रण की भौति प्रसाद जी का कथोपकथन बड़ा चुस्त, पात्रानुकूल भावव्यंजक और संघर्षमय है। पात्रानुकूल उसमें विविधता है। कथोपकथनों में पात्रों के मनोविकारों का बड़ा सफल चित्रण है। वे एक ओर पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं वहीं नाटक के कार्य व्यापार को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं। कथोपकथनों की भाषा बड़ी गम्भीर, संयत और कवित्वमयी है। कहीं-कहीं वह दुरूह और अस्पष्ट हो गई है, फिर भी प्रवाह सर्वत्र बना हुआ है। कथोपकथनों में प्रसाद जी ने पद्य का भी प्रयोग किया है। गद्य में बात करते-करते पात्र पद्य में बोलने लगते हैं। प्रसाद जी के प्रारम्भिक नाटकों में ही यह प्रवृत्ति अधिक है। बाद के नाटकों में कथोपकथनों से पद्यांश विलुप्त होते चले गए हैं।

समग्र रूप से प्रसाद जी के नाटकों पर उनके जीवन की स्पष्ट छाप है। दुःख के हलाहल को पीकर जैसे प्रसाद जी ने अखण्ड आनन्द की साधना की है वैसे ही प्रसाद जी के नाटक करुणा की गहरी टीस को अपने अन्तर में छिपाए सुखान्त बने हैं। प्रसाद जी के जीवन की ही भौति उनके नाटक सुखदुःख की धूप छाँह से खेले हैं। सुखदुःख के संघर्ष और समन्वय को लेकर वे चले हैं। इस समन्वय के कारण उनके नाटक न तो पूर्णतः सुखांत हैं और न दुखांत ही वे प्रसादांत हैं। सुखदुःख से वे इतने गुँथे हुए हैं कि दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए नाटक का सुखांत भी दुःख की झलक लिए आता है।

अपने नाटकों में प्रसादजी ने पूर्व और पश्चिम का समन्वय किया है। संस्कृत नाटकों की भौति प्रसाद जी के नाटकीय कथानक ऐतिहासिक हैं। खल नायकों की अवतारणा भी नायक के आदर्श चरित्र को अधिक उत्कर्षमयी दिखाने के लिए की गई है। पात्रों की संख्या भी अधिक है। नाटक का रूप भी यथार्थवादी न होकर आदर्शवादी है। सभी नाटक अशुभ पर शुभ की विजय दिखलाते हैं तथा सुख और शांति, त्याग और बलिदान की आदर्श भावनाओं का सन्देश देते हैं। नाटक की परिणिति भी दुःखान्त न होकर सुखांत है। पाश्चात्य नाट्यशैली से प्रभावित होकर उन्होंने नन्दी, सुधाधार, विष्कम्भक आदि की भी अवतारणा नहीं की है। कथानक में नाटकीय संघियों

का ध्यान नहीं रखा है। हत्या, युद्ध, राज विद्रोह के दृश्य जो संस्कृत नाट्य साहित्य में रंगमंच पर दिखलाना वर्जित हैं, प्रसादजी ने निसंकोच ऐसे दृश्यों का विधान किया है। इस प्रकार प्रसाद जी के नाटकों में प्राचीन और नवीन दोनों ही हैं। एक शब्द में उनके नाटकों का बाह्य शरीर पश्चिमीय है परन्तु आत्मा संस्कृत नाट्य साहित्य के अनुकूल है।

प्रसादजी के नाटकों के दोष उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं। सबसे प्रमुख दोष तो यह है कि उनके नाटक रंगमंच के अनुकूल नहीं हैं। पात्रों की भीड़-भाड़, कथानक की जटिलता, युद्ध, आक्रमण आदि दृश्यों की भरमार, नाटक की लम्बाई, भाषा की अव्यावहारिकता ये सब ऐसे तत्व हैं जो नाटक को अभिनय योग्य नहीं रहने देते। दूसरा प्रमुख दोष इन नाटकों के कार्य संकलन में एकता का अभाव है। अनेक उपकथानकों के जोड़ने से कथानक इतना जटिल हो गया है कि नाटककार उसे संभाल ही नहीं पाता, फलतः कथासूत्र विशृंखलित हो जाता है। इससे नाटक के रस प्रवाह, पात्रों के चरित्र विकास और मुख्य कथानक पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु नाटकों में यह दोष बहुत हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक अवश्य इन दोषों से बचा हुआ है। तीसरा प्रमुख दोष प्रसादजी के नाटकों का यह है कि वस्तु-विधान में भद्दी सीवनें लगी हुई हैं। पात्रों और घटनाओं की बहुलता इतनी अधिक हो जाती है कि उनको गतिविधि ही नाटककार से नहीं संभल पाती। फलतः कार्य सिद्धि के लिए नाटककार के वांछित पात्र जहाँ भूमि फोड़कर अकस्मात् आ उपस्थित होते हैं वहीं जिन पात्रों को नाटककार अपने मार्ग में बाधक समझता है, उन्हें बलात् आत्महत्या करनी पड़ती है।



ध्रुवस्वामिनी

रचना-काल

‘ध्रुवस्वामिनी’ नाटक की रचना प्रसाद जी ने संवत् १९६० में की थी। यह उनका अन्तिम नाटक था। इस नाट्य रचना के चार वर्ष पश्चात् ही प्रसाद जी इस लोक में नहीं रहे। फलतः ध्रुवस्वामिनी प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन के उस काल की रचना है जब कि साहित्यकार के रूप में उनकी ख्याति अपनी चरम सीमा पर थी। उनकी साहित्य साधना के चरण अपने उच्चतम सोपान पर रखे जा चुके थे। अक्सू और कामायनी जैसे अमर काव्य, तितली और कंकाल जैसे उपन्यास तथा अज्ञात शत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त जैसे नाटक वे हिन्दी जगत को भेंट कर चुके थे। इसके बाद प्रसाद जी की ‘ध्रुवस्वामिनी’ सामने आई और यह निसन्देह ही एक प्रौढ़ और मँजे हुए कलाकार के हाथों की रचना थी। ध्रुवस्वामिनी तक आते-आते प्रसाद जी अपनी नाट्यशैली की दुर्बलताओं से भली भाँति अवगत हो गए थे। चन्द्रगुप्त, अज्ञातशत्रु और स्कन्दगुप्त के विशाल और जटिल कथानक, पात्रों की व्यर्थ की भीड़भाड़ और कथावस्तु के अव्यवस्थित स्वरूप तथा रगमंच की दृष्टि से उनके अभिनय की अव्यावहारिकता को लेकर जो आलोचना हुई प्रसादजी को जैसे उसने सजग बना दिया था, और उनकी यही सजगता अपनी पूर्व नाट्यशैली के दोषों का निराकरण करती हुई, ध्रुवस्वामिनी में प्रति फलित हुई। अतः प्रसादजी की नाट्यशैली का बड़ा ही उदात्त और ऊर्जस्वितरूप ध्रुवस्वामिनी में प्रगट हुआ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अपने अन्य सब नाटकों की भाँति प्रसाद जी का यह नाटक भी ऐतिहासिक है। प्रसाद जी कोरे साहित्यकार ही नहीं थे, वे प्रकांड

इतिहास वेत्ता भी थे । भारतीय इतिहास का उन्होंने गहन चिंतन किया था और इसी गहन चिंतन राशि की मुक्तामणियों को उन्होंने अपनी नाट्यकला के सूत्र में पिरोया है । चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु में उनका ऐतिहासिक ज्ञान दृष्टव्य है । ध्रुवस्वामिनी तो और भी अधिक ठोस ऐतिहासिक भावमूमि पर स्थित है ।

ध्रुवस्वामिनी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि गुप्तकाल से सम्बन्धित है । प्रसिद्ध गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त और उनका यशस्वी जीवन भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए है । समुद्रगुप्त के पश्चात् गुप्तवंश के विशाल राज्य वैभव को संभालने वाले चन्द्रगुप्त द्वितीय हुए ऐसा इतिहास वेत्ताओं का मत था । परन्तु इधर सन् १९२३ में जर्नल एशियाटिक में संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि एवं नाटककार विशाखदत्त द्वारा लिखित 'देवीचन्द्र गुप्तम्' के कुछ अंश 'शृङ्गार प्रकाश' एवं 'नाट्य दर्पण' आदि पुस्तकों से लेकर उद्धृत किए गए । इससे गुप्तवंश सम्बन्धी ग्रन्थकार में पड़ी अनेक बातें प्रकाश में आईं और ऐतिहासिक तथ्यों की गहरी छानबीन के पश्चात् इतिहासकारों द्वारा यह मान्य हुआ कि समुद्रगुप्त के पश्चात् उनका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी बना । रामगुप्त अत्यन्त कापुरुष था और सम्राट होने के सर्वथा अयोग्य था । रामगुप्त की इस अयोग्यता का लाभ उठाकर शकपति ने उससे महादेवी ध्रुवस्वामिनी की माँग की और रामगुप्त ने बिना अपने गौरव और मर्यादा का विचार कर महादेवी को शकपति के हाथों समर्पण करने का निश्चय किया । परन्तु रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त से यह बात सहन नहीं हुई । वह परम वीर और साहसी था । ध्रुवस्वामिनी के वेश में वह स्वयं शकशिविर में गया और अवसर पाकर उसने कामुक शकराज का बध कर डाला । इसने चन्द्रगुप्त को महादेवी और प्रजा का प्रिय बना दिया । रामगुप्त की कापुरुषता और अयोग्यता के कारण उसका बध कर डाला गया । यह बध स्वयं चन्द्रगुप्त ने किया अथवा किसी अन्य के हाथों हुआ यह निश्चित नहीं है । इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त ने शासन भार अपने हाथों में संभाला और रामगुप्त की पत्नी ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया । इसी पत्नी से उसके दो पुत्र हुए कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त । जिसमें से प्रथम पुत्र चन्द्रगुप्त के पश्चात् सम्राट बना ।

इन ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता राखालदास बनर्जी, प्रोफेसर अल्लेकर, श्री जायसवाल ने स्वीकार की है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पुनर्लग्न को उन्होंने पुष्ट प्रामाणिक आधारों पर सत्य सिद्ध किया है। कवि राजशेखर कृत 'काव्य मीमांसा' में भी इस प्रसंग की ओर संकेत किया गया है। उसका खसाधिपति ही शकराज है तथा जिस शर्मगुप्त का उल्लेख किया गया है वही 'देवीचन्द्र गुप्तम्' का रामगुप्त है। अमोघ वर्ष (प्रथम) का जो संजन ताम्र-पत्र है उसमें भी 'हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा, ललंकोटिमले-खयन् किलकिलौ दाता स गुप्तान्वयः' जो पद है वह भी चन्द्रगुप्त द्वारा अपने भ्राता की पत्नी से पुनर्लग्न की ओर संकेत करता है। कवि बाणभट्ट कृत हर्ष-चरित में भी इस घटना का उल्लेख किया गया है कि स्त्रीवेश धारण करके चन्द्रगुप्त ने कामुक शकराज का बध किया और ध्रुवस्वामिनी से पुनर्विवाह किया। यही नहीं चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर 'रूपकृती' शब्द का उल्लेख है। प्रसादजी ने इस सम्बन्ध में लिखा है "रूप और आकृति का जान् एलन् ने खींचतान कर जो शारीरिक और आध्यात्मिक अर्थ किया है वह व्यर्थ है। रूपकृती विरुद्ध का उल्लेख कर के चन्द्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य की स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदल कर किया है और जिसका पिछले काल के लेखकों ने भी समय समय पर समर्थन किया है।" भंडारकर जी का यह भी कथन है कि रामगुप्त ने अपने थोड़े से शासनकाल में सिक्का भी चलाया था जो 'काच' के नाम से प्रसिद्ध था। राम के स्थान पर क्रम से वह 'काच' हो गया था।

इन सब बातों से इतना निश्चित है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् रामगुप्त का ही राज्यारोहण हुआ था तथा उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने उसकी पत्नी से पुनर्विवाह किया था। ये ऐतिहासिक घटनाएँ अंधकारमय क्यों रहीं तथा रामगुप्त और उसके जीवन का स्पष्ट उल्लेख गुप्त वंशावली में क्यों नहीं मिलता, इसका कारण यही हो सकता है कि रामगुप्त का शासनकाल बहुत ही थोड़े काल के लिए था। रामगुप्त ने अपने जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया, फलतः भारतीय इतिहास में गुप्त वंशावली का निर्देश करते हुए रामगुप्त को कोई महत्ता प्रदान नहीं की गई और उसका नाम गुप्त वंशावली

से छूट गया ।

इन ऐतिहासिक तथ्यों से सब से महत्वपूर्ण बात जो प्रकाश में आई वह ध्रुवस्वामिनी से चन्द्रगुप्त का पुनर्विवाह है । उस समय राज्यकुल में विधवा विवाह संभावित हो सकता है, यह बात शास्त्रीय मनोवृत्ति वाले लोग नहीं मानते । ऐसे लोगों को ऊपर निर्देशित समस्त ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता में सन्देह है । परन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में जब कि पति परदेश में हो और उसके आने की संभावना न हो, वह क्लृप्त हो, मृत्यु को प्राप्त हो गया हो तो स्त्री के लिए पुनर्विवाह और तलाक की व्यवस्था भारतीय सामाजिक परम्परा में रही है इसका स्पष्ट उल्लेख हमें धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में मिलता है । कालान्तर में यह परम्परा भले ही विलुप्त हो गई हो परन्तु भारतीय सामाजिक जीवन का यह महत्वपूर्ण अङ्ग था यह निश्चित है । प्रसादजी ने ठोस ऐतिहासिक तथ्यों का आधार लेकर इसी महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन अपने ध्रुवस्वामिनी नाटक में किया है ।

इतिहास और कल्पना

अपने इस ऐतिहासिक नाटक में प्रसादजी ने ऐतिहासिक तथ्यों को ज्यों का त्यों चित्रित किया है । अपनी कल्पना के जादू से उसमें अधिक हेर-फेर नहीं किया । इसीलिए घटनाएँ और पात्र सभी ऐतिहासिक हैं । सामन्त कुमार द्वारा रामगुप्त का बध किया जाना, यद्यपि इस घटना का स्पष्ट उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता । हो सकता है चन्द्रगुप्त ने ही रामगुप्त का बध किया हो, परन्तु चन्द्रगुप्त द्वारा रामगुप्त का बध करवाया जाना किसी प्रकार भी उचित नहीं था । यह एक प्रकार से चन्द्रगुप्त जैसे चरित्र के प्रति घोर अन्याय होता । अतः सामन्त कुमार द्वारा रामगुप्त का बध करवाया जाकर नाटककार ने अपनी नाटकीय प्रतिभा का ही परिचय दिया है । कोमा, मंदाकिनी आदि को छोड़कर सभी प्रमुख पात्र प्रायः ऐतिहासिक हैं । कोमा की सृष्टि में प्रसादजी ने अपनी कल्पना से काम लिया है । अपने अन्य सभी नाटकों में भी प्रसादजी ने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है । नाटकीय कथावस्तु को रसमय बनाने के लिए यह उचित ही है और

फिर अपने नाटक में इतिहास के साथ-साथ कल्पना के इतने पंख पसारने का अधिकार तो नाटककार को है ही । रामगुप्त द्वारा कोमा और मिहिरदेव का बध भी ऐतिहासिक घटना नहीं है, परन्तु रामगुप्त के प्रति जनता में घृणा-भाव के प्रसार के लिए नाटककार ने इस घटना को जन्म दिया है, जो कुछ अंश तक उचित ही है । चन्द्रगुप्त का शकराज के दुर्ग में जाना तो इतिहास प्रसिद्ध है ही, पर ध्रुवस्वामिनी भी उसके साथ थी अथवा नहीं, इतिहास इस विषय में मौन है । प्रसादजी की ध्रुवस्वामिनी में चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी भी शक दुर्ग में गई है । सम्भवतः चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के परस्पर अनुराग को दृढ़ बनाने और रंगमंच के आकर्षण को अधिक तीव्र बनाने के लिए ऐसा किया गया हो ।

विशाख ने अपने 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक में 'ध्रुवदेवी' नाम लिखा है । प्रसादजी ने उसे 'ध्रुवस्वामिनी' नाम की संज्ञा प्रदान की है । राजशेखर के मुक्तक में भी यही नाम आया है । प्रसादजी को यही नाम स्त्रीजनोचित, सुन्दर, आदर सूचक और सार्थक प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होंने उसी का व्यवहार किया ।

ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु

नाटक की मूल वस्तु उसका कथानक है । कथानक की ही विविध घटनाओं का प्रदर्शन रंगमंच पर किया जाता है, फलतः किसी भी नाटक की बहुत कुछ सफलता उसके आकर्षक और रसपूर्ण कथानक पर निर्भर है । प्रसादजी ने ध्रुवस्वामिनी में जिस कथानक की सृष्टि की है वह इस दृष्टि से बड़ा ही हृदयग्राही और मार्मिक है । उसकी घटनाएँ दृश्यकाव्य की दृष्टि से बड़ी पूर्ण और स्फूर्तिदायक हैं । यद्यपि ध्रुवस्वामिनी का कथानक पूर्णतः ऐतिहासिक है, परन्तु प्रसादजी ने अपनी भावुकता और कल्पना की तूलिका से उसे रसमय बनाकर उसकी ऐतिहासिक रुचिता को दूर कर दिया है । संक्षेप में ध्रुवस्वामिनी की कथा इस प्रकार है :—

कथानक

सम्राट समुद्रगुप्त ने अपनी मृत्यु के पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी ज्येष्ठपुत्र रामगुप्त के स्थान पर कनिष्ठ पुत्र चन्द्रगुप्त को ही नियुक्त किया था । परन्तु चन्द्रगुप्त अपना संपूर्ण राज्याधिकार रामगुप्त को ही सौंप देता है । रामगुप्त अत्यन्त कायर था और सम्राट होने के सर्वथा अयोग्य था । उसकी पत्नी महादेवी उससे अप्रसन्न रहती है और रामगुप्त को यह संदेह बना रहता है कि महादेवी चन्द्रगुप्त से अनुराग रखती है । इधर दिग्विजय के लिए निकले हुए रामगुप्त के शिविर को शकपति घेर लेता है । शकराज एक संधिपत्र रामगुप्त के पास भेजता है और उसमें अपने लिए महादेवी ध्रुवस्वामिनी तथा अपने सामन्तों के लिए रामगुप्त के सामन्तों की पत्नियों की माँग करना है । रामगुप्त अपने अमात्य शिलर स्वामी की मंत्रणा से बिना अपने गौरव और मर्यादा का ध्यान किए शकराज के संधि प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता है । महादेवी की अनुनय विनय को भी वह ठुकरा देता है । चन्द्रगुप्त इस स्थिति को सहन नहीं करता । वह स्वयं स्त्री वेश में शकराज के पास जाता है । ध्रुवस्वामिनी भी उसके साथ रहती है । चन्द्रगुप्त द्वंद

युद्ध में शकराज का बध कर डालता है। शकराज की मृत्यु पर उसकी सेना छिन्न-भिन्न होती है। रामगुप्त के सामन्तगण चन्द्रगुप्त की जय घोषणा करते हैं, इससे रामगुप्त अत्यन्त भयभीत होता है। इसी बीच शकराज की प्रेमिका कोमा अपने पिता मिहिरदेव के साथ रामगुप्त के शिविर में आती है और ध्रुवस्वामिनी से शकराज के शव को पाने की प्रार्थना करती है। ध्रुवस्वामिनी उसे आशा प्रदान कर देती है परन्तु रामगुप्त के सैनिक शकराज का शव ले जाती हुई कोमा और मिहिरदेव का बध कर डालते हैं। इससे रामगुप्त के प्रति उसके सामंतों में घृणा और रोष का प्रसार होता है। अन्त में सभी सामन्तगण एक स्वर से यही निश्चित करते हैं कि चन्द्रगुप्त ही सम्राट बनें ध्रुवस्वामिनी उनकी राजमहिषी हो। पुरोहित भी ध्रुवस्वामिनी द्वारा रामगुप्त से मोक्ष (Divorce) की व्यवस्था को धर्मानुकूल बताता है। रामगुप्त का एकमात्र सहायक अमात्य शिखर स्वामी भी अवसर देखकर चन्द्रगुप्त का पक्ष समर्थन करता है। सारी परिस्थितियों को अपने प्रतिकूल देखकर रामगुप्त अत्यन्त विक्षिप्त हो उठता है और वह कटार लेकर चन्द्रगुप्त पर पीछे से बार करता है। तभी एक सामन्त द्वारा उसका वध कर दिया जाता है। परिषद् द्वारा चन्द्रगुप्त सम्राट और ध्रुवस्वामिनी राजमहिषी घोषित होती है।

ध्रुवस्वामिनी की यह कथावस्तु तीन अङ्कों में विभाजित है। प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है, और सारी घटनाएँ प्रायः एक ही स्थान पर घटित हुई हैं। कथावस्तु के तीनों अंकों का केन्द्र रामगुप्त और शकराज के शिविर ही है।

प्रथम अङ्क—रामगुप्त के शिविर में एक कोने से ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश होता है। उसके पीछे-पीछे एक कुरूप और लम्बी स्त्री चुपचाप नंगी तलवार लिए आती है। खड़गधारिणी पहिले तो गूँगी का अभिनय करती है पर बाद में चन्द्रगुप्त की दीन अवस्था और ध्रुवस्वामिनी के प्रति उसके प्रेम का परिचय वह ध्रुवस्वामिनी को देती है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करती है। इतने में रामगुप्त का प्रवेश होता है और साथ ही एक प्रतिहारी चिन्ता जनक समाचार रामगुप्त को सुनाना चाहती है। परन्तु रामगुप्त इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। वह इसी बात में

विचारमग्न रहता है कि महादेवी चन्द्रगुप्त से अनुराग रखती है, मुझे नहीं चाहती। संदेह में उलझे हुए ऐसे रामगुप्त को अमात्य शिखरस्वामी एक पत्र लाकर देते हैं। यह शकाधिपति की ओर से संधिपत्र है। रामगुप्त इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते और वे ध्रुवस्वामिनी के समक्ष किए जा रहे हिजड़े और बौनों के हास परिहासात्मक प्रदर्शन का आनन्द लेने लगते हैं। इसी बीच पुनः अमात्य शिखर स्वामी आकर शकराज के दूत का संदेश सुनाता है कि शकाधिपति ने अपने लिए महादेवी को तथा अपने सामंतों के लिए गुप्त साम्राज्य के सामंतों की पत्नियों की माँग की है। रामगुप्त इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। महादेवी ध्रुवस्वामिनी इसका तीव्र विरोध करती है। वह रामगुप्त से बहुत अनुनय-विनय करती है, परन्तु रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी की बात को अस्वीकार कर देता है। ध्रुवस्वामिनी निराश होकर आत्महत्या करना चाहती है, इतने में वेग सहित चन्द्रगुप्त का प्रवेश होता है और वह ध्रुवस्वामिनी को ऐसा करने से रोकता है। चन्द्रगुप्त यह जानकर कि रामगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी को शकराज के लिए सौंपना स्वीकार कर लिया है—बहुत लुब्ध होता है। वह स्वयं ही ध्रुवस्वामिनी बनकर अन्य सामंत कुमारों के साथ शकराज के पास जाने का निश्चय करता है। शिखर स्वामी ध्रुवस्वामिनी को भी साथ जाने के लिए कहता है। चन्द्रगुप्त इसका विरोध करता है, पर अन्त में ध्रुवस्वामिनी का भी चन्द्रगुप्त के साथ जाना निश्चित हो जाता है। अन्त में सामंतकुमारों के आगे-आगे मंदाकिनी गीत गाते हुए प्रवेश करती है। मंदाकिनी के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी सबके साथ धीरे-धीरे प्रस्थान करती है और इस प्रकार प्रथम अङ्क की समाप्ति होती है।

द्वितीय अङ्क—द्वितीय अङ्क शकराज के शिविर से प्रारम्भ होता है। शिविर में शकराज की प्रेमिका कोमा दृष्टिगोचर होती है। शकराज के प्रति अपने प्रणय भाव पर सोचती हुई वह एक सीढ़ी पर बैठ जाती है। इतने में शकराज हाथ में नंगी तलवार लिए चिंतन भाव से प्रवेश करता है। कोमा को वह नहीं देख पाता। अपने दूत खिंगल का उसे इन्तजार है। कोमा को देखकर वह कोमा से बातें करने लगता है। वह अपनी भीषण परिस्थितियों

से कोमा को अवगत कराना चाहता है। कोमा शकराज के लिए एक मदिरा का प्याला लेने चली जाती है। इसी बीच खिगल प्रवेश करता है। खिगल के मुँह से यह सुनकर कि रामगुप्त ने उसके दोनों प्रस्ताव स्वीकार कर लिए हैं शकराज अत्यन्त प्रसन्न होता है। कोमा चुपके से आकर पीछे खड़ी हो जाती है और सारी बातें सुन लेती है। शकराज विजय का उत्सव मनाने के लिए सोने की भांग वाली नाच के प्रबन्ध की आज्ञा देता है। शकराज अपने सामन्तों के साथ विजयोत्सव का आनन्द लेते हैं। रात्रिकाल होने पर शकराज बड़ी अधीरता के साथ भेंट में आई हुई ध्रुवस्वामिनी का इन्तजार करते हैं। खिगल दुर्गतोरण पर शिविकाओं के आने की सूचना देता है और साथ ही यह भी कहता है कि महादेवी केवल शकराज से सीधे ही भेंट करना चाहती है। कोमा भी शकराज के निकट ही बनी रहती है। उसे यह बात अच्छी नहीं लगती कि एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए महा अनर्थ किया जाय। इसीलिए कोमा शकराज को ऐसा करने से रोकती है परन्तु शकराज उसकी भर्त्सना कर उसके हृदय को आघात पहुँचाता है। वह अपने धर्म आचार्य कोमा के पितृ तुल्य मिहिरदेव का भी अपमान करता है। मिहिरदेव शकराज का साथ छोड़ने को प्रस्तुत होते हैं और अपने साथ कोमा को भी चलने के लिए कहते हैं। पर कोमा को शकराज का साथ छोड़ने में संकोच होता है। मिहिरदेव आकाश में धूमकेतु के उदय को देखकर शकराज के भावी अमंगल की सूचना देता है। शकराज यह जानकर अत्यन्त भयभीत होता है। वह कोमा को मिहिरदेव के साथ जाने से रोकता है। परन्तु कोमा चली जाती है और भयभीत शकराज अकेला रह जाता है। ध्रुवस्वामिनी और स्त्री वेश में चन्द्रगुप्त परस्पर वार्तालाप करते हुए प्रवेश करते हैं। शकराज के प्रवेश के साथ ही दोनों चुप हो जाते हैं। शकराज दोनों को देखकर चकित हो जाता है और यह निश्चय ही नहीं कर पाता कि इन दोनों में कौन ध्रुवस्वामिनी है। दोनों ही अपने को ध्रुवस्वामिनी बताते हैं। अन्तमें चन्द्रगुप्त द्वंद युद्ध में शकराज का बध कर डालता है। 'ध्रुवस्वामिनी की जय' का हल्ला मचाते हुए रक्ताक्त कलेवर सामंत कुमारों

का प्रवेश होता है और इस प्रकार द्वितीय अङ्क की समाप्ति होती है । ।

तृतीय अङ्क—तृतीय अङ्क शक दुर्ग के भीतरी प्रकोष्ठ से प्रारम्भ होता है मंच पर ध्रुवस्वामिनी विराजमान हैं । एक सैनिक से वे चन्द्रगुप्त के धावों के सम्बन्ध में पूछती हैं । इतने में मंदाकिनी प्रवेश करती है और वह ध्रुवस्वामिनी को भाभी कहकर बधाई देती है । इसी बीच पुरोहितजी का आगमन होता है और वे महादेवीजी से स्वस्त्ययन (एक विशिष्ट धार्मिक कृत्य) करने के लिए कहते हैं, परन्तु ध्रुवस्वामिनी अपने को महादेवी नहीं कहलाना चाहतीं । वे पुरोहितजी और उनके धर्मशास्त्र तथा कर्मकांडों की — नारी की दयनीय दशा के सम्बन्ध में—भर्त्सना करती हैं । पुरोहित यह कहकर कि मुझे अपने धर्मशास्त्र फिर से देखने होंगे, प्रस्थान करते हैं । इतने में मिहिरदेव कोमा के साथ प्रवेश करते हैं और वे रानी से शकराज के शव की याचना करते हैं । महादेवी इसके लिए आज्ञा प्रदान कर वहाँ से प्रस्थान कर देती हैं । उनके चले जाने के पश्चात् चन्द्रगुप्त का सहसा प्रवेश होता है । मंदाकिनी को देखकर वे कहते हैं कि अब मेरा यहाँ रहना असंभव है । इतने में नेपथ्य में कोलाहल होता है । मंदाकिनी ही आकर चन्द्रगुप्त को यह सूचना देती है कि शकराज का शव लेकर जाते हुए आचार्य और उसकी कन्या कोमा का राजाधिराज रामगुप्त के सैनिकों ने बध कर डाला । ध्रुवस्वामिनी भी यह सुनकर चौंक उठती हैं । सभी सामंत कुमार भी इस बात से क्रोध में भर उठते हैं । वे रामगुप्त के प्रति अपमानजनक शब्दों का व्यवहार करते हैं । रामगुप्त सहसा प्रवेश करता है और वह यह सब सुनकर अत्यन्त क्रोधित होता है । वह इसके लिए चन्द्रगुप्त को उत्तरदायी बताता है, परन्तु चन्द्रगुप्त अपनी ओर से कुछ नहीं कहता । रामगुप्त के संकेत से चन्द्रगुप्त बन्दी बना लिया जाता है । महादेवी चन्द्रगुप्त से इसका विरोध करने के लिए कहती हैं परन्तु चन्द्रगुप्त शांत बना रहता है । रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को डाँटता है और उसे अपनी सहधर्मिणी तथा महादेवी होने का स्मरण दिलाता है । ध्रुवस्वामिनी अपने को रामगुप्त की पत्नी मानने से इन्कार कर देती है । रामगुप्त क्रोध में भर कर ध्रुवस्वामिनी को भी बन्दी बनाने का आदेश देता है । यह बात चन्द्रगुप्त को सहन नहीं होती और वह अपनी लौह-शृङ्खलाओं को तोड़

कर बन्धन मुक्त हो जाता है। इस अप्रत्याशित घटना से रामगुप्त अत्यन्त भयभीत बनता है। शिखर स्वामी भी अवसर देखकर चन्द्रगुप्त का ही पक्ष-समर्थन करते हैं। राज्य-परिषद् की बैठक होती है और उसमें सभी एक स्वर से चन्द्रगुप्त को सम्राट तथा ध्रुवस्वामिनी को राज-महिषी के रूप में स्वीकार करते हैं। पुरोहितजी अपने धर्मशास्त्र के अनुसार ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष (Divorce) की व्यवस्था करते हुए उसके पुनर्विवाह को धर्म-सम्मत बताते हैं। रामगुप्त इन सब घटनाओं से अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठता है और वह धोके से चन्द्रगुप्त के पीछे पहुँचकर कटार से उसे मारना चाहता है तभी एक सामंत कुमार के प्रहार द्वारा रामगुप्त नीचे गिर पड़ता है। राजाधिराज चन्द्रगुप्त और महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जयघोष के साथ नाटक का तृतीय अङ्क समाप्त होता है।

कथावस्तु की समीक्षा

ध्रुवस्वामिनी का कथानक पूर्णतः ऐतिहासिक है और वह गुप्तकाल से सम्बन्धित है। कथानक की मूल संवेदना पुरुष जाति के अनुचित बन्धनों से नारी जाति की मुक्ति है। पुरुष की भौति नारी जाति को भी मोक्ष (Divorce) और पुनर्विवाह का अधिकार है, भारतीय धर्म-शास्त्र इसकी सम्मति देता है। इसी भावभूमि पर ध्रुवस्वामिनी का भव्य कथानक निर्मित हुआ है। कथावस्तु की सारी घटनाएँ और सारे कार्य-व्यापार इसी मूल संवेदना को केन्द्र बनाकर पल्लवित और पुष्पित हुए हैं। नाटक के सभी पात्रों का सम्बन्ध कथावस्तु की इस मूल भावना से बना हुआ है। प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में ही हमें ध्रुवस्वामिनी की दयनीय स्थिति के दर्शन होते हैं। उसका पति विलासता में डूबा रहता है और वह स्वयं बौनों, हिजड़ों, गूँगों और बहरों से घिरी रहती है। राजमहिषी होकर भी उसे नियंत्रित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। ध्रुवस्वामिनी के नारी जीवन की यह स्थिति तब और भी करुण हो जाती है जब कि उसे शकराज को सौंपने का निश्चय किया जाता है। उसकी अनुनय-विनय भी टुकरादी जाती है, और अन्त में निराश होकर वह आत्महत्या को उद्यत होती है। द्वितीय अङ्क में घटनाएँ इस प्रकार विकसित होती हैं कि ध्रुवस्वामिनी को अपनी मुक्ति का आशानुकूल वातावरण

बनता हुआ दृष्टिगोचर होता है। तृतीय अङ्क की घटनाओं से यह वातावरण और भी पुष्ट बनता है तथा अन्त में महादेवी अपने क्लीव और कायर पति रामगुप्त से मुक्ति पाती है और महादेवी के वास्तविक पद को प्राप्त करती है। यही नाटक की कथावस्तु का फलागम है और नाटककी नायिका ध्रुवस्वामिनी इसकी अधिकारिणी बनी है।

ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु योजना बड़ी सुगठित है। घटनाएं एक दूसरे से परस्पर गुंथी हुई हैं फलतः कथावस्तु का क्रम कहीं भी विश्रंखलित नहीं हो पाया है। बड़ी सहज और व्यवस्थित गति से ध्रुवस्वामिनी की कथा विकसित होती चलती है। विकास की इस गति में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाती। घटना व्यापार इतनी तीव्रता से चालित होते हैं कि दर्शकों या पाठकों को इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वे अपनी बुद्धि या हृदय को इधर उधर ले जाएं। नाटकों के दृश्यों के प्रति उनका आकर्षण और कुतूहल बराबर बना रहता है।

ध्रुवस्वामिनी नाटक की कथावस्तु में जो इतनी प्रभविष्णुता है, उसका मुख्य कारण यह है कि उसमें अधिक फैलाव नहीं है। प्रसादजी के अन्य नाटक चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु और स्कंदगुप्त में कथावस्तु सम्बन्धी यह दोष पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। वहाँ मूल कथानक अनेक उपकथानकों से उलझा हुआ है, पात्रों की भीड़ भाड़ बहुत अधिक है। कथावस्तु अनेक केन्द्रों में विकसित होती है। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि इन नाटकों की कथावस्तु अव्यवस्थित हो गई है। अनेक निरर्थक अङ्कों और दृश्यों की योजना की गई है। पात्रों का चरित्र उभरने नहीं पाया है। इन सब के कारण इन नाटकों का नाटकीय आकर्षण कम हो गया है। परन्तु ध्रुवस्वामिनी में इन दोषों का अभाव है। ध्रुवस्वामिनी में एक ही प्रधान कथानक है। उपकथानकों की भरमार उसमें नहीं है। इससे कथानक का क्रम अव्यवस्थित नहीं होने पाया है। पात्रों की भीड़ भाड़ भी अधिक नहीं है। नाटक की सभी घटनाएं एक ही स्थान से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी में संकलन त्रय का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

सत्य तो यह है कि ध्रुवस्वामिनी का कथानक अपने में सर्वथा पूर्ण है।

अंकों में कथा का विभाजन धाराप्रवाहिक रूप लिए हुए है। सबसे बड़ी कुशलता नाटककार ने अंकों के प्रारम्भिक और अन्तिम दृश्यों को उपस्थित करने में प्रदर्शित की है। प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही प्रकृति के सुरम्य बातावरण के बीच महादेवी ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश कराया गया है। बीच-बीच में हिजड़ों, बौनों का अभिनय, रामगुप्त की कायरता, ध्रुवस्वामिनी का ज़ोभ, आत्महत्या को प्रस्तुत महादेवी को रोकते हुए चन्द्रगुप्त का प्रवेश और अन्त में मंदाकिनी का वीरगति प्रथम अंक की रोचकता को तीव्र से तीव्रतम बनाता चलता है। इसके साथ ही साथ हमें मानव हृदय की नाना अतर्दशाओं के संघर्ष और उत्थान पतन भी देखने को मिलते हैं। द्वितीय अंक में भी यही बात है। कोमा और शकराज का वार्त्तालाप, धूमकेतु के उदय से शकराज का भयभीत होना और शकराज की मृत्यु नाटकीय प्रभाव को पूर्णतः बनाए रखती है। यद्यपि घटनाओं का व्यापार इस अङ्क में अधिक तीव्र नहीं है, फिर भी उसमें सामाजिकों के लिए पर्याप्त आकर्षण बना हुआ है इसमें सन्देह नहीं। तृतीय अङ्क में घटनाएँ तेजी से आगे बढ़ती हुई अपने अवसान को प्राप्त होती हैं। चन्द्रगुप्त को बंदी किया जाने वाला दृश्य और उसकी मुक्ति, रामगुप्त की मृत्यु आदि घटनाएँ नाटकीय कौशल की दृष्टि से बड़ी प्राणवान और सशक्त है। इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ध्रुवस्वामिनी नाटक कथावस्तु की दृष्टि से बड़ा सुन्दर और सफल बन पड़ा है।

ध्रुवस्वामिनी के कथावस्तु की सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि प्रसाद जी ने केवल आवश्यक सामग्री के ही सहारे कथानक का निर्माण किया है। अनावश्यक और अप्रासंगिक बातों को उन्होंने अपने नाटक में स्थान नहीं दिया। कोमा और शकराज के प्रणय भाव का प्रसंग भी नाटक की कार्य सिद्धि में सहायक बनकर आया है। इससे नाटकीय गति में बड़ी प्रखरता और गहनता आ गई है। परन्तु कथावस्तु की यह लघुता जहाँ नाटकीय कौशल के लिए गुणकारी सिद्ध हुई है वहीं उसकी कुछ दुर्बलताओं को भी वह प्रकाश में लाई है। ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे नाटककार ने घटनाओं और कार्य व्यापारों की योजना में कँजूसी से काम

लिया है। कुछ महत्वपूर्ण बातों के तो हमें संकेत मात्र ही मिलते हैं जब कि उनके लिए स्वतन्त्र घटनाओं और कार्यव्यापारों को जन्म दिया जा सकता था। प्रथम अङ्क में ध्रुवस्वामिनी का यह कथन कि “मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है यह भी मैं आज तक नहीं जान सकी। मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहों” इस बात की ओर संकेत करता है कि रामगुप्त विलासी है और ध्रुवस्वामिनी में उसकी रुचि नहीं है। परन्तु मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से यह बात कुछ समीचीन प्रतीत नहीं होती। अधिक स्वाभाविक तो यह था कि प्रथम अङ्क में ही ऐसे दृश्य की अवतारणा की जाती, जिसमें मदिरा में उन्मत्त विलासिनियों से घिरा रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी की भर्त्सना से मर्माहत होता। ऐसी परिस्थिति में ध्रुवस्वामिनी पर उसका संदेह करना तथा ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त से विमुख होना स्वाभाविक ही था। इससे रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का चरित्र तथा नाटक की कथावस्तु अधिक स्पष्टता के साथ प्रकाश में आती। यही नहीं घटनाओं और कार्य व्यापार के अभाव के कारण कुछ पात्र तो निरर्थक से प्रतीत होते हैं। मंदाकिनी ऐसा ही पात्र है। नाटक के कथाक्रम में उसका कोई विशेष योगदान नहीं है।

भारतीय नाट्यशैली और ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु—भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक की कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—१—आरम्भ २—प्रयत्न ३—प्राप्त्याशा ४—नियताप्ति ५—फलागम। जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता हो उसे प्रारम्भ कहते हैं। फल की प्राप्ति के लिए जो उद्योग किया जाता है वह प्रयत्न कहलाता है। फल प्राप्ति की आशा को प्राप्त्याशा कहते हैं। इस अवस्था में विफलता की भी आशंका बनी रहती है। सफलता का निश्चय हो जाने को नियताप्ति कहते हैं। सफलता प्राप्त होने की अवस्था फलागम कहलाती है।

ध्रुवस्वामिनी में कार्य की इन पाँचों अवस्थाओं का विभाजन तीन अङ्कों में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। प्रथम अङ्क में प्रारम्भ और प्रयत्न द्वितीय अङ्क में प्राप्त्याशा और तृतीय अङ्क में फलागम की स्थापना हुई है। प्रथम अङ्क में ध्रुवस्वामिनी का यह कथन “पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु संपत्ति

समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम (रामगुप्त) मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते।” फल प्राप्ति का आरम्भ है। इसके उपरान्त जब महादेवी आत्महत्या को तत्पर होती है और चन्द्रगुप्त उसे ऐसा करने से रोकता है तभी प्रयत्न की अवस्था प्रारम्भ होती है। ध्रुवस्वामिनी का यह कथन “तो कुमार हम लोगों का चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलंब की आवश्यकता नहीं।” प्रयत्न की कार्यावस्था का सूचक है। शकराज का सामना करने का यह निश्चय फल प्राप्ति के लिए प्रयत्न स्वरूप है। इससे चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के हृदय में अनुराग की पुष्टि भी होती है। आगे ध्रुवस्वामिनी स्पष्ट कहती है “हम दोनों ही चलेगे। मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय में भी तुम्हारी ज्योति बन कर बुझ जाने की कामना रखती हूँ।”

नाटक का द्वितीय अङ्क पूर्णतः प्राप्त्याशा की कार्य अवस्था लिए हुए है। चन्द्रगुप्त द्वारा शकराज का बध किए जाने पर फल प्राप्ति के लिए आशानु-कूल बातावरण का निर्माण होता है। चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी के वैवाहिक सम्बन्ध का भी नैतिक बल मिलता है। परन्तु इसके साथ ही साथ विफलता की आशङ्का भी बनी हुई है। रामगुप्त के हाथों में ही अभी तक गुप्त शासन की बागडोर है। अमात्य आदि उसके सहायक हैं। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के आजीवन सम्बन्ध के लिए पुरोहित के धर्मशास्त्र की सम्मति भी आवश्यक है।

तृतीय अङ्क में अभीप्सित फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है, और फल प्राप्ति की सारी विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं। सभी सामन्तगण रामगुप्त का विरोध करते हुए चन्द्रगुप्त का पक्ष समर्थन करते हैं। अमात्य शिखर स्वामी भी चन्द्रगुप्त का साथ देता है। पुरोहित का यह कथन “यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकित्तिवशी क्लीब है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं। × × × मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है, फल प्राप्ति के निश्चय को पुष्ट बनाना

है। यह निश्चय चन्द्रगुप्त के इस कथन में और भी अधिक दृढ़ता को प्राप्त होता है “ध्रुवदेवी मेरी है। (ठहर कर) हाँ वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी संपूर्ण भावना से प्यार किया है।” ये सभी स्थल नियताप्ति के बोधक हैं। इसके उपरान्त रामगुप्त की मृत्यु तथा चन्द्रगुप्त का सम्राट और ध्रुवस्वामिनी का राजमहिषी होना फलागम का द्योतर है।

अर्थ प्रकृतियाँ—कथावस्तु में कुछ ऐसे चमत्कार युक्त अंश अथवा साधन भी होते हैं जो उसे नाटक के प्रधान फल अर्थ, धर्म, अथवा काम की प्राप्ति की ओर अग्रसर करते हैं। ये ही चमत्कारपूर्ण अंश अर्थ प्रकृतियाँ कहलाती हैं जो पाँच प्रकार की हैं—१—बीज, २—बिन्दु, ३—पताका, ४—प्रकरी, ५—कार्य। बीज प्रधान फल के हेतु स्वरूप कथा का वह भाग है जो क्रमशः विकास प्राप्त करता है। कथावस्तु का प्रारम्भिक अंश बीज रूप में स्थित रहता है जो कि कार्य शृङ्खला के साथ-साथ विकसित होता चलता है। बीज का सम्बन्ध अधिकारिक कथा से रहता है। बीज के अंकुरित होने और कथा सूत्र के आगे बढ़ने पर विविध विरोधी तथा प्रासंगिक जो बातें उपस्थित हो जाती हैं उन सब से मूल कथानक का सम्बन्ध जोड़ने वाला तत्व बिन्दु कहलाता है। इस प्रकार बिन्दुतत्त्व कथानक की शृङ्खला को अविच्छिन्न बनाए रखता है। पताका उसे कहते हैं जब नाटक में मूल कथा के साथ साथ प्रासंगिक कथा भी चलती है। इस प्रासंगिक कथा का नायक अपना अलग महत्व नहीं रखता। प्रकरी भी पताका की भाँति प्रासंगिक कथा का ही एक भेद है। परन्तु जहाँ पताका मूल कथानक के साथ साथ अन्त तक चलती है, प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। कार्य अन्तिम फल या परिणाम को कहते हैं। इसी फल सिद्धि के लिए सम्पूर्ण प्रयत्न किये जाते हैं।

ध्रुवस्वामिनी में प्रथम अङ्क में ही ध्रुवस्वामिनी कहती है ‘कुमार की स्निग्ध, सरल, और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है। किन्तु उन्हीं का भाई ? आश्चर्य ?

+ + + +

“कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया

है वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।”

तथा चन्द्रगुप्त का यह कथन —

“यह नहीं हो सकता । महादेवी ! जिस मर्यादा के लिए जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया उसका यह अपमान ! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद दलित होना न पड़ेगा ?” बीज अर्थ प्रकृति का आभास देते हैं ।

इसके उपरान्त ऐसी घटनाएँ विकसित होती हैं और ऐसे व्यापार चलते हैं जिनके कारण बीज उत्तरोत्तर अंकुरित होता चलता है । रामगुप्त का संधि प्रस्ताव स्वीकार करना, शकराज का बध, चन्द्रगुप्त का बन्धन और मुक्ति, सामन्त गणों में रामगुप्त के प्रति रोष आदि बातें बीज के प्रस्फुटित होने में सहायक बनती हैं । फलतः प्रथम अङ्क से लेकर तृतीय अङ्क तक विन्दु अर्थ प्रकृति का विस्तार है । ध्रुवस्वामिनी में प्रासंगिक कथावस्तु न होने से पताका अर्थ प्रकृति नहीं है ; कोमा और शकराज के प्रेम भाव के प्रसङ्ग को प्रकरी अर्थ प्रकृति के अन्तर्गत लिया जा सकता है । तृतीय अङ्क के अन्त में कार्य अर्थ प्रकृति की भी सिद्ध हो जाती है ।

संधिया—अर्थ-प्रकृति और अवस्थाओं के मेल को संधि कहते हैं । वस्तु विन्यास में संधि का स्थान बड़ा महत्त्व पूर्ण रहता है । नाटक में फलागम से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ और कथानक आपस में गुँथे हुए रहते हैं । अतः घटनाओं के जो सूत्र एक दूसरे का आपस में सम्बन्ध जोड़ते हैं उन्हें संधि कहते हैं । ये पाँच प्रकार की होती हैं; (१) मुख (२) प्रतिमुख (३) गर्भ (४) विमर्श (५) निर्वहण । ‘प्रारम्भ’ नामक अवस्था के साथ संयोग होने से जहाँ अनेक रसों और अर्थों के व्यञ्जक बीज की उत्पत्ति होती है वहाँ मुख संधि समझी जाती है । प्रतिमुख संधि में बीज स्पष्ट रूप से अंकुरित होता हुआ दीख पड़ता है । इससे घटना क्रम आगे की ओर अग्रसर होता है । इसमें फल प्राप्ति के प्रारम्भिक उपायों के रहस्य कुछ तो उद्भासित हो जाते हैं और कुछ अस्पष्ट रहते हैं । गर्भ संधि में अंकुरित बीज का विस्तार होता है । इसमें

प्राप्त्याशा और पताका का मेल होता है। इसमें फल प्राप्ति की ओर अग्रसग उपायों में संघर्ष रहता है, अर्थात् कभी उपाय का उत्थान होता है कभी पतन। विमर्श संधि में बीज का और भी अधिक विस्तार होता है तथा नियताप्ति और प्रकरी का मेल रहता है। इससे फल प्राप्ति में अनेक विघ्नों का समावेश भी होता है। निर्वहण या उपसंहार संधि में कार्य की सिद्धि होती है।

ध्रुवस्वामिनी में कथावस्तु को सुगठित बनाती हुई ये सब संधियाँ बड़ी कुशलता के साथ निहित हैं। प्रथम अङ्क में ही रामगुप्त की कापुरुषता, उसके द्वारा शकराज का संधि प्रस्ताव स्वीकार करने से ध्रुवस्वामिनी का क्षोभ और चन्द्रगुप्त के प्रति अनुरागोदय ही प्रारम्भ नामक कार्यावस्था तथा बीज नामक अर्थ प्रकृति है। यहीं से मुख संधि प्रारम्भ होती है। इसके बाद चन्द्रगुप्त द्वारा स्त्री वेश में शकशिविर जाने का निश्चय करना, धूमकेतु को देखकर शकराज का भयभीत होना आदि घटनाओं तक प्रतिमुख संधि चलती है। शकराज के बध की घटना गर्भ संधि की द्योतक है। इसके बाद रामगुप्त के सैनिकों द्वारा कोमा और मिहिर देव का बध, चन्द्रगुप्त का बन्दी बनाया जाना और उसका मुक्त होता और सामन्तों द्वारा उसका समर्थन करना विमर्श संधि है। रामगुप्त की मृत्यु और चन्द्रगुप्त का सम्राट तथा ध्रुवस्वामिनी का राज्य महिषी होना निर्वहण संधि है।

इस प्रकार भारतीय नाट्य शास्त्र की कसौटी पर कसने से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है कि ध्रुवस्वामिनी में भारतीय नाट्य शैली का बड़ा ही सुन्दर निर्वाह किया गया है।

पाश्चात्य नाट्य शैली और ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु—प्रसाद जी ने अपनी कथावस्तु का सङ्गठन संस्कृत नाट्य शैली के ही अनुकरण पर नहीं किया, अपितु पाश्चात्य नाट्य शैली के तत्वों का समावेश भी उन्होंने अपने नाटकों में किया है। ध्रुवस्वामिनी नाटक में तो यह बात और भी स्पष्ट है। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार किसी भी नाटक के कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ इस प्रकार होनी चाहिए।

(१) प्रारम्भ—इसमें किसी संघर्ष मयी घटना से नाटक का प्रारम्भ होता

है। यह संघर्ष या विरोध दो भिन्न आदर्शों, उद्देश्यों, दलों, सिद्धान्तों इत्यादि किसी का भी हो सकता है।

(२) विकास—इसमें प्रारम्भ का संघर्ष और भी अधिक विकास को प्राप्त होता है। विरोधी घटनाओं में वृद्धि होती है।

(३) चरमसीमा—यह कथावस्तु की ऐसी अवस्था है जहाँ पारस्परिक विरोधी दलों का अथवा आदर्शों का संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता और जहाँ किसी एक पक्ष की विजय प्रारम्भ हो जाती है।

(४) उतार—इस अवस्था में दो विरोधी पक्षों में एक पक्ष की विजय निश्चित हो जाती है।

(५) अन्त या समाप्ति—यहाँ आकर सभी प्रकार का विरोध या संघर्ष समाप्त हो जाता है।

कहना न होगा कि ध्रुवस्वामिनी में इन पाँचों अवस्थाओं का निर्वाह बड़ी सुन्दर रीति से हुआ है। नाटक का प्रारम्भ ही संघर्ष के बातावरण से होता है। ध्रुवस्वामिनी के मुख से निकला हुआ नाटक के प्रथम अङ्क का यह प्रथम वाक्य “सीधा तना हुआ अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर ! और इन लुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न” पुरुष जाति के शोषण से आतंकित नारी जाति के संघर्ष का प्रतीक है। नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी अपने हृदय में साथ ही अपने जीवन की परिस्थितियों में संघर्ष की भूमिका लिए रंगमंच पर प्रवेश करती है। महादेवी होते हुए भी वह विलासिनियों से घिरे, मदिरा में उन्मत्त सम्राट रामगुप्त का अनुराग नहीं पा सकी। उसे एक प्रकार से नियंत्रित जीवन बिताना पड़ता है। हिजड़े, बौने, गूँगे, उसे घेरे रहते हैं। वह स्वयं भी रामगुप्त को नहीं चाहती परन्तु उसके कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त के प्रति उसके हृदय में अनुराग है। रामगुप्त द्वारा शकराज का संधि प्रस्ताव स्वीकार करना और महादेवी को शकराज के लिए सौंपे जाने का आदेश देना, महादेवी की अनुनय विनय को ठुकराना, महादेवी के हृदय की इस संघर्ष भावना को और भी अधिक तीव्र बनाते हैं। स्वयं रामगुप्त के हृदय में

द्रंद है। उसे संदेह है कि महादेवी उसे प्रेम नहीं करती। वह चंद्रगुप्त से अनुराग रखती है। वह अपने हृदय पर हाथ रख कर प्रतिहारी से कहता है—“युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है, देखता नहीं, जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नहीं रखती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज।” रामगुप्त के हृदय का यह संघर्ष तब और भी तीव्र बनता है जब ध्रुवस्वामिनी शिखर स्वामी और उसकी भर्त्सना करती है तथा चन्द्रगुप्त को अपनी भुजाओं में पकड़ लेती है। चन्द्रगुप्त भी अपने हृदय में संघर्ष रखता है। वह भी महादेवी से अनुराग रखता है पर अपनी इस आकांक्षा को वह मन ही मन दबाकर रखना चाहता है। नियति का विधान उसे ऐसा करने के लिए विवश करता है।

पात्रों के हृदय का यह संघर्ष ही नाटक की घटनाओं तथा नाटक में प्रतिष्ठित आदर्शों के संघर्ष को जन्म देता है। नाटक की मूल संवेदना ही संघर्ष मूलक है। पुरुष जाति के शोषण से नारी का विद्रोह और संघर्ष, नाटक इसी संघर्ष की भावना का प्रतीक है। नाटक के पात्र और घटना व्यापार परस्पर इसी संघर्ष में उलझे हुए हैं। एक ओर पुरुष जाति के शोषण का प्रतीक रामगुप्त है जो शकराज का संधि प्रस्ताव स्वीकार कर महादेवी को शकराज के हाथों सौंपता है। अमात्य स्वामी उसके साथ है। रामगुप्त महादेवी पर अनुचित संदेह कर उसे अपने बलात् नियन्त्रण में रखना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी, चंद्रगुप्त आदि पात्र और उनसे सम्बन्धित घटनाएँ इन सबसे संघर्ष करती हैं। द्वितीय अङ्क में कोमा का प्रसङ्ग नारी हृदय के प्रणय भाव के संघर्ष का द्योतक बनकर आया है। एक ओर कोमा शकराज को प्रेम करती है परन्तु दूसरी ओर शकराज उसके प्रेम की अवहेलना कर ध्रुवस्वामिनी को पाना चाहता है। कोमा अपने प्रणय भाव के ही कारण यह निश्चय नहीं कर पाती कि वह अपने पिता के साथ जाय अथवा शकराज के पास बनी रहे। शकराज भी धूमकेतु का उदय देखकर भयभीत होता है। तृतीय अङ्क के मध्य तक संघर्ष का यह समस्त रूप अपने चरम रूप को प्राप्त होता है। रामगुप्त का चंद्रगुप्त तथा सामन्तकुमारों को बन्दी बनाया जाना तथा महादेवी को बन्दी बनाए जाने का आदेश देना संघर्ष की चरमावस्था है। इसके बाद उतार की स्थिति आती है। सभी रामगुप्त के प्रति रोष से भर जाते हैं

चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की विजय निश्चित हो जाती है। अन्त में रामगुप्त की मृत्यु तथा चंद्रगुप्त के सम्राट और ध्रुवस्वामिनी के राजमहिषी होने के साथ नाटक में व्यंजित संघर्ष की समाप्ति होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने अपनी कथावस्तु की योजना में भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही नाट्य शैलियों का बड़ा सुन्दर, सहज और सम्यक् निर्वाह किया है।

चरित्र-चित्रण

आधुनिक नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता पात्रों का व्यक्तित्व और उनका चरित्र-चित्रण है। कथा को हम भूल जाते हैं परन्तु पात्र और उनका चरित्र हम पर अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं। जिस नाटक के पात्र ऐसा न कर सकें वे श्रेष्ठता की कोटि में नहीं रखे जा सकते। वास्तव में पात्रोंकी स्थिति नाटक में बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। नाटक के अन्य सब तत्व पात्रों के ही आश्रित होते हैं। पात्र ही नाटक की घटनाओं और कार्य व्यापारों के नियामक होते हैं।

ध्रुवस्वामिनी में पात्रों का व्यक्तित्व और उनका चरित्र बड़ा प्रभावशाली रूप लेकर आया है। इसका एक कारण तो यही है कि ध्रुवस्वामिनी में पात्रों का अधिक जमघट नहीं है और प्रमुख पात्र तीन हैं ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त और चन्द्रगुप्त। इसके अतिरिक्त कोमा, शकराज, शिखर, महिर देव, पुरोहित, मन्दाकिनी आदि पात्र हैं।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र बड़ा ही सबल और प्राणवान है। उसका व्यक्तित्व प्रारम्भ से लेकर अन्त तक समस्त नाटक पर छाया हुआ है। नाटक की समस्त घटनाओं और कार्य व्यापारों का मूल उसी से सम्बन्धित है। नाटक के अन्य सब पात्र उसके व्यक्तित्व और चरित्र का उद्घाटन करने में सहायक होते हैं। रामगुप्त का चरित्र ध्रुवस्वामिनी के पत्नीत्व और नारीत्व के यथार्थ रूप को प्रकाश में लाता है। चन्द्रगुप्त और मन्दाकिनी पात्र उसके प्रेमिका रूप को समझने में सहायक होते हैं। कोमा, शकराज, पुरोहित, शिखरस्वामी अन्य सभी पात्र भी उसके चरित्र की विविध प्रवृत्तियों का प्रकाशन करते हुए उसके चरित्र के चारों ओर घूमते हैं।

ध्रुवस्वामिनी नाटक के प्रधान फल की उपभोक्ता होने से नायिका है। इस दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी नायिका प्रधान नाटक है। यही नहीं नाटक की

जो मूल संवेदना है, जिस आदर्श की प्रतिष्ठापना नाटक में की गई है ध्रुव-स्वामिनी उसका प्रतिनिधित्व करती है। युग-युग से नारी पुरुष जाति के अत्याचारों में पिसती आई है। उसके समस्त अधिकारों का हनन किया गया है। उसे केवल वासना का खिलौना मात्र समझा गया है। पालित पशुओं की भाँति वह पुरुष जाति की उचित अनुचित सेवा के लिए नियुक्त की गई है। भारतीय नारीत्व का आदर्श लेकर ध्रुवस्वामिनी इन सबसे संघर्ष करती है और अन्त में अपने को पुरुष जाति द्वारा किए जाने वाले शोषण से मुक्त करती है।

आत्मगौरव की भावना ध्रुवस्वामिनी में कूट-कूटकर भरी हुई है। रामगुप्त की पत्नी होकर वह महादेवी तथा राजमहिषी के सम्पूर्ण अधिकार अपने लिए चाहती है। परन्तु इसके विपरीत रामगुप्त के सन्देह का शिकार बनकर वह गूँगे, बहरे, हिजड़े और बौनों से घिरी रहती है। ध्रुवस्वामिनी के लिए यह स्थिति असह्य हो उठती है। वह यह भी सहन नहीं कर सकती कि उसका पति विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त रहे और उससे अनुराग भाव न रखे। इसीलिए वह अपने पति से घृणा करती है। रामगुप्त द्वारा शकराज का संधि-प्रस्ताव स्वीकार किए जाने तथा स्वयं उसको ही पशुओं की भाँति शकराज के हाथों सौंप दिए जाने का आदेश मिलने पर ध्रुवस्वामिनी का आत्मगौरव प्रदीप्त हो उठता है। आत्मसम्मान का ज्वलंत प्रतीक बनकर ये शब्द उसके मुँह से निकल पड़ते हैं “पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते।” आगे वह रामगुप्त को निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव इन शब्दों द्वारा कड़ी मर्त्सना करती हुई स्पष्ट शब्दों में कहती है “नहीं मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी ! मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है।” आत्म-सम्मान की इसी ज्योति को प्रदीप्त करती हुई वह आत्महत्या के लिए भी प्रस्तुत होती है क्योंकि वह नहीं चाहती कि राजनीति के हाथों पशुओं की

भौति उसका क्रय-विक्रय हो ।

यद्यपि परिस्थितियों की दयनीयता के कारण ध्रुवस्वामिनी अपने नारी जीवन को क्षुद्र और दुर्बल समझती है, परन्तु उसका हृदय, उसका चरित्र, और व्यक्तित्व क्षुद्र और दुर्बल नहीं है । वह सभी प्रकार के अन्याय और अत्याचार के प्रति बिरोध की मूर्ति बनकर आती है और सब प्रकार के अन्याय और अत्याचारों का डटकर मुकाबिला करती है । दूसरों को भी इसके लिए उकसाती है । रामगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाए जाने पर वह स्पष्ट शब्दों में चन्द्रगुप्त से आग्रह करती है—भटक दो इन लौह शृङ्खलाओं को यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सह सकेगा ।” नारी और पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों को लेकर धर्मशास्त्र की अनुचित व्यवस्था के मिथ्या ढोंग को भी वह नहीं सह सकती । पुरोहित से वह बड़े जोर शब्दों में कहती है “परन्तु आप, आपका कर्मकाण्ड और आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है ।”

पुरुष जाति के अत्याचारों ने ध्रुवस्वामिनी को पुरुष जाति के प्रति अत्यंत कठोर बना दिया है । पुरुष जाति के प्रति प्रेम करने को वह घोर अपराध समझती है । फिर भी नारी होने के नाते प्राण की सहज भावना से ध्रुवस्वामिनी बच नहीं सकती । रामगुप्त से वह घृणा करती है परन्तु चन्द्रगुप्त से उसे प्रेम है । कुमार की स्निग्ध सरल और सुन्दर मूर्ति देखकर वह प्रेम से पुलकित हो उठती है । चन्द्रगुप्त का स्मरण उसे आत्मविभोर बनाता है ।

एक नारी होने के नाते ध्रुवस्वामिनी क्षमा और दया की भी मूर्ति है । वह कोमा को शकराज का शव ले जाने की आज्ञा सहर्ष प्रदान करती है । वह एक वीर क्षत्राणी है जो शकराज के शिविर में जाने के लिए अविलंब प्रस्तुत हो जाती है । मृत्यु का उसे तनिक भी भय नहीं है । सभी विषम परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाना जानती है । उसकी बातों से नीतिज्ञता और बुद्धिमत्ता टपकती है ।

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र नियतिवाद की छाया लिए हुए है । प्रसादजी के अन्य नाटकों के सभी प्रमुख पात्रों में यह बात पाई जाती है । ध्रुवस्वामिनी कहती है “हैं जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत, और अभारी होकर किसी के

अभिमानपूर्ण आत्मविश्वास का भार ढोती रहूँ—यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति से कठिन आदेश पर चलेगा ही ? तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं है ?' परन्तु नियतिवाद से प्रभावित होते हुए भी ध्रुवस्वामिनी का जीवन कर्मशीलता का आदर्श लिए हुए है । नियति के कठिन आदेश पर उसका जीवन नहीं चलता ।

सब कुछ मिलाकर भारतीय नारीत्व की बहुत ही ऊर्जस्वित भाँकी प्रसादजी ने अपने इस महत्त्वपूर्ण नारी पात्र में दी है ।

कोमा

कोमा ध्रुवस्वामिनी नाटक का दूसरा महत्त्वपूर्ण नारी-पात्र है । वह आचार्य मिहिरदेव की प्रतिपालित कन्या तथा शकराज की प्रेमिका है । प्रणय प्रेम ने तीव्र आलोक की भाँति उसके नेत्रों में प्रकाश-पुञ्ज उँडेल दिया है । प्रणय ही उसका जीवन है । चाहे वह पागलपन हो अथवा चातुर्य पर कोमा प्रणय से विलग नहीं हो सकती । जीवन की चंचल छाया में प्रणय रस के कुछ घूँट पीने की उसे अभिलाषा है । वास्तव में वह एक आदर्श प्रेमिका है । अपने प्रेमी शकराज की दुश्चिन्ताओं में भी वह हाथ बैटाना चाहती है । अपने पिता के कहने पर भी वह शकराज का साथ छोड़ने में संकोच करती है । प्रणय का बन्धन उससे तोड़ते नहीं बनता । बड़े करुण-भाव से कोमा मिहिरदेव से कहती है “तोड़ डालूँ पिताजी, मैंने जिसे अपने आँसुओं से सीँचा वही दुलार भरी वल्लरी मेरे आँख बन्द करने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है । देदूँ एक झटका—उसकी हरी-भरी पत्तियाँ कुचल जायँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे ? न ऐसी कठोर आज्ञा न दो ।” शकराज की मृत्यु होने पर प्रणय की खातिर वह उसका शव लेने ध्रुवस्वामिनी के पास पहुँचती है । यह जानते हुए भी कि प्रणय के पश्चात स्त्रियों को प्रायः निराशा, निष्पीड़न और उपहास ही मिलता है, फिर भी वह प्रेम को नारी जीवन की दीपावली के आलोक का महोत्सव ही समझती है । प्रणय के लिए सर्वस्व दान करने का उत्साह ही उसके जीवन का आदर्श है ।

कोमा का प्रणय भाव विवेक पर आधारित है। भावुकता के प्रवाह में यद्यपि उसके जीवन में एक बहुत बड़ी भूल हो गई है कि वह शकराज से प्रेम कर बैठी है। क्योंकि कोमा कोमल, उदार, शान्तिप्रिय है। शकराज उद्धत् और पाषाण की तरह कठोर है। फिर भी कोमा शकराज की स्वार्थ मलिन कलुष से भरी मूर्ति से प्रेम नहीं करती, अपितु वह तो हर्ष से दीप्त महत्त्वमयी पुरुषमूर्ति की पुजारिन है जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। उसका विवेक अन्ध प्रणय भाव पर विजय प्राप्त करता है और इसीलिए पग-पग पर अपमानित होने की अपेक्षा वह शकराज का साथ छोड़ देने में ही अपना कल्याण समझ लेती है।

भावुक कोमा कोमलता और दया की मूर्ति है। उसके हृदय में मदिरा की उष्ण धार नहीं शीतल जल की धार बहती है। उसका हृदय इतना कोमल है कि वह पौधों का मुर्झाना भी नहीं देख सकती। युद्ध, अशांति से कोमा को बड़ी घृणा है। इसीलिए शकराज से वह 'अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रहने' के लिए कहती है। वह यह बात भी सहन नहीं कर सकती कि कोई एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न बनाकर अपने गर्व की तृप्ति करे। वह इस राजनीतिक प्रतिशोध को महा अनर्थ समझती है तथा इसके लिए शकराज की कड़ी भर्त्सना करती है।

वास्तव में कोमा का चरित्र प्रेम, कोमलता और भावुकता का जगमगाता हुआ रूप है। अपने इस पात्र में प्रसादजी ने जैसे अपने हृदय के काव्यत्व तथा रोमांटिक कोमल तरल भावनाओं को मूर्तिमान कर दिया है।

मन्दाकिनी

नाटकीय घटना व्यापार की दृष्टि से मन्दाकिनी का चरित्र विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु उसका स्वयं का व्यक्तित्व बड़ा गौरवपूर्ण और आदर्श है। वह ध्रुवस्वामिनी की सहचरी है और चन्द्रगुप्त को अपना भाई कहती है। रामगुप्त से उसे घोर घृणा है और ध्रुवस्वामिनी तथा चन्द्रगुप्त के पथ की वह प्रबल समर्थिका है। गुप्तवंश के गौरव और मर्यादा का उसे अभिमान है

और जब रामगुप्त के हाथों शकराज का सन्धि-प्रस्ताव स्वीकार किए जाने पर वह गुप्तवंश के गौरव को नष्ट होते हुए देखती है तब रोष से भरकर वह कह उठती है “भयानक समस्या है। मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है।” वास्तव में मंदाकिनी एक वीर और कर्तव्यपरायण बाला है। हृदय को कठोर करके वह अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए प्रस्तुत होती है। न्याय का दुर्बल पक्ष होते हुए भी साहस के साथ उसका पक्ष ग्रहण करती है। रामगुप्त सम्राट है, उसके हाथों में राज्यशक्ति है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की स्थिति दयनीय है फिर भी मंदाकिनी, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का पक्ष लेकर पग-पग पर रामगुप्त और अमात्य शिखर स्वामी की भर्त्सना करती है। न्याय का पक्ष लेकर वह स्पष्ट शब्दों में कहती है “राजा का भय मंदा का गला नहीं घोंट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल मर्यादा नारी को शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। भगवान् ने स्त्रियों को उत्पन्न करके ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है, किन्तु तुम लोगों की दस्युवृत्ति ने उसे लूटा है।”

ध्रुवस्वामिनी की भाँति मंदाकिनी ने भी युग-युग से पीड़ित और अभिशापित नारी जाति के स्वर को ऊँचा उठाया है। उसके स्वर्चों और अधिकारों की जोरदार शब्दों में माँग की है। नारी जाति की दयनीय दशा को व्यक्त करती हुई मंदाकिनी कहती है “स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है। अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिन्ना से उपकृत करता है।”

फिर भी मंदाकिनी के चरित्र का नाटक में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह ध्रुवस्वामिनी के कंठ से कंठ मिलाकर बोलने वाली, उसकी अनुगता मात्र है।

रामगुप्त

नाटकीय घटना व्यापार की दृष्टि से रामगुप्त प्रमुख पुरुष-पात्र है। अमात्य शिखर स्वामी की कूटनीति तथा चन्द्रगुप्त के राज्य-त्याग से वह

सम्राट समुद्रगुप्त के पश्चात् गुप्तवंश का सम्राट बन बैठा है, परन्तु सम्राट होने के वह सर्वथा अयोग्य है। उसका सम्पूर्ण चरित्र कायरता, मूर्खता और शासकोचित गुणों के अभाव का मूर्तिमान् रूप है। उसके व्यक्तित्व में तनिक भी पौरुष, दृढ़ता और शक्ति नहीं है। वह विलासी प्रवृत्ति का है और सदैव मदिरा में उन्मत्त रहता है। हिजड़े, बौने उसके सहचर हैं। उनके विनोदपूर्ण कार्यों में उसे बड़ा आनन्द आता है। राज्य के चिन्ताजनक समाचारों को सुनने का तो उसे अवकाश ही नहीं है। शकराज ने उसके शिविर को घेर लिया है, इस बात की उसे चिन्ता नहीं। उसे सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की है कि जगत् की अनुपम सुन्दरी ध्रुवस्वामिनी मुझसे प्रेम नहीं करती।

सम्राट होते हुए भी रामगुप्त को अपने गौरव और मर्यादा का तनिक भी ध्यान नहीं है। वह इतना कायर है कि अपने से सैनिक स्थिति में दुर्बल शकराज के अपमानजनक संधि-प्रस्ताव को सहर्ष ही स्वीकार कर लेता है। पौरुष से हीन वह अपनी पत्नी की अनुनय-विनय को भी ठुकरा देता है। यहाँ तक कि शकराज के युद्ध के भय से वह ध्रुवस्वामिनी को अपनी पत्नी मानने से इन्कार कर देता है। वह इतना स्वार्थी है कि अपने प्राणों की रक्षा के लिए दूसरों के साथ अन्याय करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। ध्रुवस्वामिनी से वह कहता है “तुम्हारी सुन्दरता, तुम्हारा नारीत्व अमूल्य हो सकता है। फिर भी अपने लिए मैं स्वयं कितना आवश्यक हूँ, कदाचित्त तुम यह नहीं जानती हो?” रामगुप्त स्वार्थी ही नहीं कृतघ्न, प्रवंचक और धूर्त है। जिस चन्द्रगुप्त ने उसके लिए राज्य का त्याग किया, उसे ही शक दुर्ग में भेजकर वह मरवाना चाहता था। चन्द्रगुप्त को बंदी बनाना चाहता है और अन्त में सब भौंति निरुपाय हो कटार निकाल कर उस पर वार भी करता है। उसका स्वयं का हृदय कलुषित है इसलिए वह दूसरों को भी कलुषित मन का समझता है।

यद्यपि रामगुप्त दिग्विजय के लिए निकला है, परन्तु युद्धोचित शौर्य और पराक्रम उसमें नाममात्र को भी नहीं है। युद्ध से तो वह अत्यन्त घबड़ाता है। ध्रुवस्वामिनी जब अपनी आत्महत्या के लिए कृपाण निकालती है तभी

वह भयभीत होकर भाग जाता है। सचमुच उसका जीवन भेड़ की तरह लुढ़क रहा है।

रामगुप्त सर्वथा मूर्ख है और उसमें तनिक भी व्यवहार-कुशलता नहीं है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह उचित और अनुचित सभी प्रकार के उपाय काम में लाता है। भले और बुरे का ज्ञान उसे तनिक भी नहीं रहता। क्रोधा और मिहिरदेव का बंध करवा के वह अपने हृदय की क्रूरता और निष्ठुरता का तां परिचय देता ही है, अपनी अविवेकशीलता को भी प्रगट करता है। परिस्थितियाँ उसके प्रतिकूल हो जाती हैं। सभी सामंतकुमार उसका विरोध करने लगते हैं। किसी के हृदय में भी उसके लिए श्रद्धा और आदर का भाव नहीं है। सब उसे नीच और कायर समझते हैं। रामगुप्त के प्रति एक सामंतकुमार कहता है “मैं सच कहता हूँ, रामगुप्त जैसे राजपद का कलुषित करने वाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं। विजय का उत्साह दिखाने यहाँ वे किस मुँह से आये, जो हिंसक, पाखंडी, क्षीब और क्लीब हैं। गुप्त कुल के गौरव को कलंक-कालिमा में निमज्जित करने वाले हैं।” वह प्रवचन का पुतला है और स्वार्थ का घृणित प्रपंच है। वह निसंदेह गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज कितवषी क्लीब है।

परिषद का निर्णय जब रामगुप्त को अनार्य, पतित और क्लीब कहकर गुप्त साम्राज्य के पवित्र राज्य सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं समझता तब वह अत्यन्त भयभीत, किञ्चित् व्यविमूढ़, व्यथित और निराश हो उठता है। वह अपने अधिकार को किसी भी प्रकार नहीं छोड़ना चाहता। अन्त में विक्षिप्त होकर वह चन्द्रगुप्त पर आक्रमण कर ही देता है और अन्त में मारा जाता है।

चन्द्रगुप्त

रामगुप्त के विपरीत चन्द्रगुप्त का चरित्र बड़ा भव्य, आदर्श और उदात्त भावों की उज्ज्वल भूमि पर आधारित है। स्वर्गीय सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित किए जाने पर भी गुप्तकुल की परम्परा का पालन करते हुए चन्द्रगुप्त अपने हाथ में आए राज्य को रामगुप्त को सौंप देता है। यह चन्द्रगुप्त का महान् त्याग है। वह अपने पिता के दिए हुए

स्वत्व और राज्य का अधिकार ही नहीं सौंपता बल्कि अपने हृदय की अमूल्य निधि ध्रुवस्वामिनी को भी रामगुप्त की पत्नी बनने देता है। यद्यपि ध्रुवस्वामिनी को वह प्रारम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्रेम करता है परन्तु अपने विवेक बल से वह इस भावना पर नियंत्रण करता है। अपने प्रेम को वह प्रगट नहीं होने देता।

चन्द्रगुप्त विवेकवान् ही नहीं वह बड़ा वीर, साहसी, कर्त्तव्यपरायण युवक है। उसकी स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है। अपने बाहुबल और भाग्य पर चन्द्रगुप्त को पूर्ण विश्वास है। जीवन उसके लिए विश्व की सम्पत्ति है और प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना वह ठीक नहीं समझता।

चन्द्रगुप्त आत्म-सम्मान प्रिय युवक है। गुप्त काल का गौरव और उसकी मर्यादा ही उसका जीवन है। यह जानकर कि महादेवी को शकराज के हाथों सौंपा जा रहा है, चन्द्रगुप्त गुप्त कुल के इस अपमान को सह नहीं सकता। रोष भरे शब्दों में वह कहता है “यह नहीं हो सकता महादेवि ! जिस मर्यादा के लिए, जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान ! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित न होना पड़ेगा।”

चन्द्रगुप्त वीर, पराक्रमी और साहसी है। ध्रुवस्वामिनी के साथ अकेले ही वह शक दुर्ग में प्रवेश करता है और द्वंद युद्ध में शकराज को पराजित करता है। अपने कर्त्तव्य पालन में उसे बहुत सुख और आनन्द मिलता है। कर्त्तव्य का पालन करते हुए उसके जीवन में विश्राम नहीं। इसीलिए शकराज का वध होने के उपरान्त जब उसका कर्त्तव्य पूर्ण हो जाता है। तब वह वहाँ रुकना भी नहीं चाहता।

साहसी और वीर चन्द्रगुप्त रामगुप्त की भौति निर्लज्ज नहीं है। वह विनय और शील की मूर्ति है। रामगुप्त द्वारा बंदी बनाए जाने का वह प्रति-रोध नहीं करता। परन्तु फिर भी उसका विनय कायरता का आवरण लिए हुए नहीं है। अपनी आँखों से विनय और शील के नाम पर वह अन्याय और

श्रत्याचार नहीं देख सकता। जब रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी को बंदिनी बनाए जाने का आदेश दिया जाता है तभी वह अपनी लौह शृङ्खलाओं को भटक देता है। उसके ये शब्द बड़ी स्पष्टता के साथ उसके चरित्र के द्योतक हैं “नहीं मैं अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नहीं रही। नहीं यह शील का कपट मोह और प्रवंचना है। मैं जो हूँ वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका। यह कैसी बिडंबना है। विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी ?

अपने इन्हीं गुणों के कारण चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी का प्रेम और गुप्त साम्राज्य के सामन्त कुमारों का आदर और सम्मान प्राप्त करता है। राज्य परिषद उसे एक मत से सम्राट पद पर अभिषिक्त करने का निर्णय करती है। ध्रुवस्वामिनी उसकी राज्यमहिषी है। उसके आदर्श जीवन का उसे उचित पुरस्कार मिलता है। 482.01 / J25 J

शकराज

42880.

शकराज का सम्बन्ध केवल नाटक के द्वितीय अङ्क से है, परन्तु इस थोड़े से ही प्रसङ्ग में नाटककार ने उसके चरित्र की अनेक भंगिमाओं पर प्रकाश डाला है। शकराज का चरित्र पूर्णतः बर्बरता और कठोरता का प्रतीक है। दया, ममता, करुणा और कोमलता से उसका हृदय सर्वथा अछूता है। दम्भ की भावना से उसका मन भरा है इसीलिए वह किसी से छोटा नहीं बनना चाहता। वह अपने पूर्वजों की पराजय का प्रतिशोध गुप्त सम्राट समुद्र गुप्त से लेना चाहता है। उसकी यह प्रतिहिंसा शक जाति की बर्बरता के ही अनुकूल है। इसीलिए वह अपने लिए ध्रुवस्वामिनी तथा अपने सामन्तों के लिए गुप्त साम्राज्य के सामन्तों की पत्नियों की माँग करता है।

अपनी दम्भी मनोवृत्ति के कारण शकराज अपने कार्यों में किसी का हस्त-क्षेप नहीं सहन कर सकता, यहाँ तक कि भाग्य का भी नहीं। वह पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता है। सौभाग्य और दुर्भाग्य को तो वह मनुष्य की दुर्बलता समझता है। वह अपनी प्रेयसी कोमा को भी विवाद न

करने का आदेश देता है। इसके लिए कोमा के प्रेम की अवहेलना करने में भी उसे संकोच नहीं होता। अपने राजनीतिक कार्यों में वह आचार्य मिहिर देव के हस्तक्षेप को भी अनुचित समझता है। वह अपने आचार्य का भी अनादर और अपमान करता है।

शकराज कुशल राजनीतिज्ञ है। वह रामगुप्त की दुर्बलता को जानता है और इस अवसर से पूरा पूरा लाभ उठाता है। वह चारों तरफ से गुप्त शिविर को घेर लेता है और अपना अपमान जनक संधि प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए रामगुप्त को बाध्य करता है।

इतना सब कुछ होते हुए भी शकराज के चरित्र में दृढ़ता और पौरुष नहीं है। धूमकेतु के उदय से अमङ्गल की आशंका उसे भयभीत और शंकित बना देती है। अन्त में चन्द्रगुप्त के हाथों द्वंद्व युद्ध में वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

शिखरस्वामी

शिखर स्वामी रामगुप्त का अमात्य और परम विश्वासी सहायक है। उसकी ही कूटनीति से चन्द्रगुप्त के स्थान पर रामगुप्त गुप्तवंश का सम्राट बनता है। रामगुप्त अपना समस्त कार्य शिखर स्वामी की ही मंत्रणा से करता है। रामगुप्त की दृष्टि में वह राजनीति शास्त्र का बृहस्पति है।

अपनी राजनीति में शिखर स्वामी राष्ट्र की रक्षा को सबसे सर्वोपरि मानता है। उसकी दृष्टि में राज्य के लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है। राज विसर्जन ही अन्तिम उपाय है। राजा और राष्ट्र की रक्षा के लिए तो वह स्वयं अविचल भाव से प्राण दण्ड स्वीकार करने को तैयार है। परन्तु शिखर स्वामी का यह राजनीति का आदर्श बड़ी धूर्तता और प्रवंचना से पूर्ण है। राष्ट्र की रक्षा से भी ऊपर उसका स्वयं का स्वार्थ सर्वोपरि है। रामगुप्त का पक्ष समर्थन वह इसीलिए करता है क्योंकि रामगुप्त के साथ रहने में ही उसकी भलाई है। रामगुप्त के हाथों से जब राज्य शासन के अधिकार छिन जाते हैं तब वह चट से रामगुप्त का साथ छोड़कर चन्द्रगुप्त का पक्ष समर्थक बन जाता है। अपनी धूर्तता पूर्ण कुटिल राजनीति की सिद्धि के लिए वह अन्याय और अनीति का साथ देता है।

रामगुप्त द्वारा शकराज का अपमान जनक संधि प्रस्ताव स्वीकार करने में उसका ही सबसे बड़ा हाथ है।

मिहिरदेव

मिहिरदेव बहुत थोड़े समय के लिए रंगमंच पर आता है; परन्तु उसका चरित्र बड़ा प्रभावशाली है। शकराज का वह आचार्य है। आचार्य के अनुकूल ही उसका व्यक्तित्व गम्भीर और विवेक की दृढ़ता लिए हुए है। अपने विचारों को वह दृढ़ता और स्पष्टता के साथ कहना जानता है, चाहे वे किसी को भले लगें अथवा बुरे इसकी उसे चिन्ता नहीं।

मिहिरदेव के जीवन का आदर्श बहुत ऊँचा है। राजनीति ही उसके लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति से भी ऊपर वह मानवता को सर्वोपरि स्थान देता है। शकराज से वह कहता है “राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व मानव से सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो, परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना सबसे बड़ी हानि है। शकराज ! दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है।”

जहाँ राजनीति के छल छन्द न हों, जहाँ अनादर और अपमान न हो, जहाँ नीला आकाश, अखरोट की छाया, झरनों के किनारे हों मिहिरदेव शकराज का साथ छोड़ वहीं रहना चाहते हैं। कोमा को भी अपने साथ चलने का आग्रह करते हैं।

पुरोहित

पुरोहित का चरित्र भी नाटक में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह धर्मशास्त्र का आचार्य है। धर्म का नियामक है। वह स्त्री और पुरुष के परस्पर विश्वास पूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग को ही विवाह मानता है। विवाह का उसकी दृष्टि में धर्मशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के वैवाहिक सम्बन्ध को लेकर वह पुनः धर्मशास्त्र के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था का विधान करता है। वह ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष का

अधिकार प्रदान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहता है कि रामगुप्त को ध्रुव-स्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं। पुरोहित सत्यवादी ब्राह्मण है और इस सत्य को बिना किसी भय और संकोच के साथ रामगुप्त के सामने कहता है। रामगुप्त के यह कहने पर कि मूर्ख तुमको मृत्यु का तनिक भी भय नहीं पुरो-हित कहता है “तनिक भी नहीं। ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है। अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता है। तुम्हारे अधिक मुझे धार्मिक सत्य कहने से रोक नहीं सकते। उन्हें बुलाओ मैं प्रसन्न हूँ।”

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी ध्रुवस्वामिनी सकल नाटक है। सभी पात्र ऐतिहासिक हैं और राज्यकुल से उनका सम्बन्ध है। मानवीय धरातल पर उनके चरित्र का निर्माण हुआ है। सभी पात्रों के हृदय में द्वन्द्व है, संघर्ष है, दुर्बलताएँ हैं और अन्य मानवोचित गुण हैं। परिस्थितियों के घात-प्रति-घात के बीच उनके चरित्र का विकास होता है। वे स्वयं घटनाओं के नियामक हैं और घटनाएँ भी उनके चरित्र पर प्रकाश डालती हैं।

यद्यपि नाटक में पात्रों की अधिक भीड़भाड़ नहीं है। प्रमुख पात्र भी तीन चार हैं, तथापि कथावस्तु के लघु होने के कारण पात्रों का व्यक्तित्व अधिक उभर नहीं पाया। मन्दाकिनी आदि पात्र तो ऐसे हैं जिनका नाटकीय घटना व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। पात्रों के चरित्र का पूर्ण विकास भी नहीं हो पाया। वे प्रारम्भ में अपनी जिन चारित्रिक विशेषताओं के साथ रंगमंच पर उपस्थित होते हैं, अन्त तक वैसे ही बने रहते हैं। उनके चरित्र में परिवर्तन नहीं है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में अवश्य एक स्थल पर परिवर्तन का थोड़ा सा संकेत मिलता है। जब रामगुप्त उसे शकराज को सौंपने का पूर्ण निश्चय कर लेता है तब ध्रुवस्वामिनी अपनी दयनीय स्थिति से अत्यन्त विवश हो उठती है। उस जैसी आत्मसम्मान प्रिय नारी को भी रामगुप्त जैसे कापुरुष के सम्मुख अनुनय विनय करनी पड़ती है। चंद्रगुप्त के चरित्र में भी उस समय थोड़ा विकास मिलता है जब वह विनय त्याग की मूर्ति जिसने गुप्त कुल की परम्परा का पालन कर अपने हाथ में आया राज्य छोड़ दिया, गुप्त कुल की मर्यादा को नष्ट होते हुए देख पुनः राज्य का शासन अपने हाथों में

लेता है। अपराधी के रूप में अपने बड़े भाई के दण्ड की व्यवस्था करता है।

ध्रुवस्वामिनी के पात्रों में जहाँ चारित्रिक विकास नहीं है वहाँ पात्र जटिल प्रकृति के नहीं हैं। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी न होकर एकांकी है। फलतः वे निश्चित आदर्शों या विशिष्ट वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। जिन निश्चित आदर्शों पर वे नाटक के प्रारम्भ में कदम रखते हैं अन्त तक उन्हीं पर चलते हैं। ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त, चंद्रगुप्त के चरित्र ऐसे ही हैं। इनके चरित्र में विविधता नहीं है।

ध्रुवस्वामिनी में पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्र कहीं अधिक प्रभावशाली हैं। नारी पात्रों के सम्मुख पुरुष पात्र टिकने ही नहीं पाते। ध्रुवस्वामिनी का चरित्र तो नाटक पर ऐसा छाया हुआ है कि उसने अन्य सभी पात्रों के व्यक्तित्व को निष्प्रभ बना दिया है। पाठकों की सारी सहानुभूति, सारी करुणा, सारा आकर्षण नारी पात्र अपनी ओर खींच लेते हैं। ध्रुवस्वामिनी के सभी नारी पात्र आदर्श रूप लिए हैं। उनके चरित्र हमें करुणा, त्याग, उत्सर्ग, आत्म गौरव का संदेश देते हैं। नियतिवाद का भी प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण पर प्रभाव है। ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त जैसे प्रभावशाली पात्र भी नियतिवाद की बातें करने लगते हैं। अदृष्ट को अपना सहायक मानते हैं। शंकराज यद्यपि पुरुषार्थ को ही भाग्य का नियामक मानता है पर धूमकेतु को देखकर भावी अमङ्गल की आशंका से भयभीत हो जाता है।

ध्रुवस्वामिनी में व्यंजित प्रसाद जी के इस चरित्र-चित्रण पर आदर्शवादिता की स्पष्ट छाप है। इसीलिए अपने आदर्शवादी नायक की महत्ता के प्रतिपादन के लिए वे उसके विरोधी पात्र की शक्तियों को उभरने ही नहीं देते। उसकी लुद्रता पर प्रकाश नहीं डालते। ध्रुवस्वामिनी में रामगुप्त का चरित्र ऐसा ही है। उसके चरित्र की सभी वृत्तियाँ घृणास्पद है। वह अपने सभी रूपों में मनुष्यता से गिरा हुआ है। नाटककार ने उसके चरित्र को इसी लिए अधिक से अधिक कालिमा निमज्जित किया है जिससे वह अपने नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी के प्रति सामाजिकों की सहानुभूति को अधिक से अधिक जगा सके। चंद्रगुप्त के प्रति उसके अनुराग और विकास के औचित्य को सिद्ध कर सकें। वास्तव में चरित्र चित्रण के क्षेत्र में प्रसाद जी का जीवन

दर्शन वैज्ञानिक न होकर शुद्ध उपयोगितावादी है। वे जीवन की असंगतिओं और विभीषिकाओं का चित्रण करते हुए उस स्थान पर ले आते हैं जहाँ मानव जीवन आदर्श रूप में स्थित होता है।

कथोपकथन और भाषा-शैली

शैली की दृष्टि से कथोपकथन नाटक का सबसे प्रमुख अङ्ग है। उपन्यास कहानियों में जहाँ कलाकार स्वयं ही उपस्थित होकर अपने पात्रों का चरित्र विश्लेषण करता है, घटनाओं का वर्णन करता है, नाटक में इस अधिकार से वह वंचित रहता है। यहाँ तो पात्रों का पारस्परिक कथोपकथन ही उनके चरित्र पर प्रकाश डालता है, तथा कथावस्तु के विकास में सहायक बनता है। कलाकार तो प्रसंगानुकूल बीच-बीच में सूचना और संकेत मात्र ही देता है। फलतः किसी भी नाटक को रोचक और आकर्षक बनाने में कथोपकथनों का सबसे बड़ा हाथ रहता है। कथावस्तु कितनी भी सजीव और सुगठित क्यों न हों, पात्रों का चरित्र-चित्रण कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो; अगर नाटक के संवादों में विदग्धता, मार्मिकता और सामाजिकों के हृदय को छूने की शक्ति नहीं है तो वह नाटक किसी भी दशा में एक सफल रचना नहीं कही जा सकता। प्रसादजी के उपन्यास कथोपकथनों के इस महत्त्व से भली भाँति परिचित हैं। भ्रुवस्वामिनी में तो संवादों का यह सौन्दर्य और भी अधिक दृष्टव्य है।

भ्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी ने घटना क्रम के विकास के लिए, पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए, वातावरण की सृष्टि के लिए, पात्र, देश, काल, परिस्थिति, भाव तथा रुचि के अनुकूल बड़े सजीव कथोपकथनों की योजना की है। इसीलिए उनके कथोपकथन बड़े सजीव और प्रभावोत्पादक हैं। आत्मसम्मानप्रिय भ्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के संवादों में जो दर्प, उद्वेग और प्रखरता है वह उनके चरित्र के अनुकूल ही है। शिखर स्वामी की धूर्तता और शकराज की बर्बरता उनके कथोपकथनों से भली भाँति प्रगट होती है। कोमा के भावुक और प्रणयी हृदय की अभिव्यक्ति कितनी सुन्दरता के साथ उसके वार्त्तालापों में अभिव्यक्त हुई है। भ्रुवस्वामिनी के संवादों में

जहाँ एक आवेश है तीव्रता है, कोमा के संवादों में बड़ी स्थिरता, सौम्यता और धीरता है । इसका कारण दोनों के चरित्र और परिस्थितियों की भिन्नता है ।

ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथनों में रस संचार करने की अद्भुत शक्ति है । जिन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं वे सहज ही हमारे हृदय में बैठ जाते हैं । उनकी व्यंगपूर्ण बातों से हम फड़क उठते हैं । रोषभरी बातों से हमारा हृदय जल उठता है । हीजड़ों और बौनों के संवादों से हमारी हँसी रोके नहीं रुकती । नारी जाति की आवाज को ऊँचा उठाते हुए ध्रुवस्वामिनी और मंदाकिनी के संवाद पुरुष जाति के अत्याचारों के विरुद्ध हमें लुब्ध बनाते हैं । कथोपकथनों के माध्यम से सामाजिकों को इस प्रकार भावविभोर करना ही नाटककार की सबसे बड़ी सफलता है और ध्रुवस्वामिनी में प्रसादजी इस दृष्टि से अत्यन्त सफल हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं ।

ध्रुवस्वामिनी के संवादों की एक प्रमुख विशेषता उसमें व्यावहारिकता का समावेश है । प्रसादजी के अन्य नाटक अज्ञातशत्रु, स्कंद गुप्त में जहाँ काव्यात्मक शैली के कथोपकथन अधिक हैं, प्रायः सभी प्रमुख पात्र कवियों और दार्शनिकों की सी बातें करते हैं, वहाँ ध्रुवस्वामिनी के पात्र कहीं अधिक मानवीय धरातल पर स्थित होकर वैसे ही स्वर में बात करते हैं जो उनकी परिस्थितियों, वातावरण और चरित्र के अनुकूल है । ध्रुवस्वामिनी के वार्तालाप ऐसे ही चलते हैं जैसे कि हम लोग प्रतिदिन के जीवन में देखते हैं । साधारण बातचीत के प्रसंग में कोई पक्ष, दूसरे पक्ष के लम्बे भाषणों को सुनने का धैर्य नहीं रखता । बातचीत प्रायः खंडशः उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में ही चलती है । ध्रुवस्वामिनी में भी यही बात हुई है । इन उत्तर प्रत्युत्तरों से पूर्ण कथोपकथनों की विदग्धता और सजीवता ध्रुवदेवी और खंगधारिणी, रामगुप्त और शिखरस्वामी, शकराज और कोमा, शकराज और चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवदेवी, ध्रुवदेवी और पुरोहित में देखी जा सकती है ।

संवादों की इस लघुता के कारण ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथनों में जहाँ अनति विस्तार नहीं होने पाया वहीं उनमें कहीं रुच्छता भी नहीं आने पाई । प्रथम अङ्क और द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में ध्रुवस्वामिनी तथा कोमा के जो

संवाद कथन हैं उनमें अवश्य विस्तार है। परन्तु अङ्गी के प्रारम्भ में होने के कारण उनका आधिक्य खटकता नहीं है। फिर भी इन विस्तारयुक्त संवादों में बड़ी रोचकता बनी हुई है। इन स्थलों को छोड़कर सर्वत्र संवाद छोटे, सरल और व्यावहारिक हैं। तर्क वितर्क और सैद्धान्तिक व्याख्या के प्रसंगों में भी ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथन व्यावहारिकता लिए हुए हैं। ऐसे स्थलों पर प्रायः संवाद शुष्क और नीरस बन जाते हैं। परन्तु ध्रुवस्वामिनी में ऐसे प्रसंगों पर जिन संवादों की सृष्टि हुई है, उनमें पर्याप्त सरसता और आकर्षण है। विवाह व्यवस्था को लेकर ध्रुवस्वामिनी तथा पुरोहित के संवाद से यह बात सर्वथा स्पष्ट है। यही नहीं नाटक में ये ही स्थल भावों की तीव्रता और संवादों के लाघव से विशेष आकर्षक बन सके हैं।

बास्तव में ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथनों की महत्त्वपूर्ण विशेषता उनका लाघव, और तीव्र संवेग है। भावों का बड़ा तीव्र वेग हम उनमें पाते हैं। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त और मंदाकिनी के संवादों में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कारण भी स्पष्ट है। नाटक की मूल भावनाओं और समस्याओं का ये ही पात्र प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके प्रति ही सबसे अधिक अन्याय हुआ है और अन्याय के प्रति संघर्ष भी इन्हें ही सबसे अधिक करना पड़ा है। इसीलिए उनके भावों में तीव्र आक्रोश, उद्वेग और आवेश है। संवादों की इस वेगपूर्ण प्रखरता के कारण नाटक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रंगमंचीय आकर्षण बना हुआ है।

कथोपकथनों की भाषा का रूप सर्वथा संस्कृतनिष्ठ है। उनके सभी पात्र एक ही प्रकार की भाषा में बात करते हैं चाहे वह राजा हो, अथवा सेवक, आर्य सम्राट हों अथवा अनार्य स्त्री और पुरुष। यहाँ तक कि बौनों, हिजड़ों की भाषा का रूप भी वैसा ही है जैसे कोई साहित्यकार सुन्दर शब्दावली का प्रयोग कर रहा हो। प्रसाद जी का नाटक जैसे राजा भोज की नगरी है जहाँ सभी कवि हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रसाद जी की भाषा शैली में विविधता नहीं है, एक रसता है।

शब्द-विधान की दृष्टि से प्रसादजी की भाषा का रुझान संस्कृत की समासांत पदावली की ओर अधिक है। अनेक स्थलों पर वह क्लिष्ट और

दुरूह बन गई है। नाटक के प्रारंभ में ही हम ऐसी भाषा का प्रयोग पाते हैं “सीधा तना हुआ अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इनके चरणों में लौटना ही पड़ेगा।” जहाँ भावों में तीव्रता नहीं है, वहाँ तो भाषा का ऐसा क्लिष्ट और दुरूह रूप और भी अधिक खटकने योग्य है। उर्दू शब्दों से अस्पृश्य तथा कहावतों और मुहावरों से अछूती होने के कारण उनकी भाषा में वह रवानगी लोच और चुलबुनापन भी नहीं है जो प्रेमचन्द की भाषा में दृष्टि-गोचर होता है। फिर भी प्रसाद जी की भाषा में जो माधुर्य और स्निग्धता है वह उसकी स्वाभाविकता और कलात्मक सौन्दर्य को कहीं भी नष्ट नहीं होने देती। इसका कारण यह है कि पांडित्य प्रदर्शन की दृष्टि से प्रसादजी ने भाषा को बनाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् उसने भावों का अनुगमन करते हुए स्वयं अपना रूप गढ़ा है। इसलिए उग्रभावों की व्यंजना में जहाँ भाषा ओजस्वी और स्फूर्तिवान है, प्रेम के प्रसंगों में वहीं अत्यन्त कोमल है।

वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन प्रसादजी का अद्वितीय है। एक-एक शब्द नया तुला है जैसे किसी चतुर शिल्पी ने नगीने जड़े हों। इसीलिए उनके गूढ़ वाक्य सूत्र के समान प्रतीत होते हैं। ‘मेघ संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य धिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।’ ‘वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छल छंद की धूल उड़ती है।’ “सोने की कटार पर मुग्ध होकर कोई उसे अपने हृदय में नहीं डुबो सकता।” आदि सूक्तियाँ ध्रुवस्वामिनी नाटक में पग-पग पर बिलखी हुई हैं।

अन्य नाटकों की अपेक्षा प्रसादजी की ध्रुवस्वामिनी में भाषा का रूप कहीं अधिक व्यावहारिक है। वह कहीं अधिक सरल और बोधगम्य है। इसका प्रमुख कारण तो यही है कि कथोपकथन अधिक लम्बे नहीं हुए इसीलिए संवादों की लघुता के कारण प्रसाद जी को अधिक संस्कृत-निष्ठ शब्दावली के व्यवहार का अवसर ही नहीं मिला। जहाँ अवसर मिला है वहाँ उन्होंने भाषा को निश्चय ही संस्कृत-निष्ठ और बहुत अधिक साहित्यिक बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी उच्च साहित्यिक भाषा के साथ साथ भाषा के ऐसे रूप भी ध्रुवस्वामिनी में हमें देखने को मिलते हैं—

तीसरा सामंत—क्यों बक बक करते हो, लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती।”

सब कुछ मिलाकर प्रसाद जी की भाषा शैली काव्य प्रधान है। उसमें सङ्गीत की उन्मादकारिणी तलजीनता और मस्ती है। शैली के अलङ्करण, संस्कृत गर्भित रूप, और मधुवेष्टन ने उसे बड़ा भव्य और समृद्ध रूप प्रदान किया है। रस संचार की इस शैली में अपूर्व क्षमता है। छोटे-छोटे भाव खंडों को सजाकर उसमें कला का अन्यतम रूप रस भर देना इस शैली की मुख्य वृत्ति है। संगीत और काव्य के समस्त तत्वों को समेट कर उसने अपना रूप गढ़ा है। सब कुछ मिलाकर वह बहुत ऊँचे कलात्मक धरातल पर स्थित है। उसमें अधिक उतार चढ़ाव और विविधता नहीं एक रसता है। उसकी गति बड़ी धीर गंभीर, उसका रूप बहुत मोहक, उसका हृदय बड़ा भावुक, उसकी आत्मा बड़ी सचेतन और एक शब्द में यह शैली उस नारी सौंदर्य की भव्य छटा और अपूर्व भंगिमाओं को लेकर चली है जिस की श्री सुषमा प्रसादजी के नाटकों की सबसे बड़ी विभूति है।

अतीत दर्शन और वर्तमान की चेतना

अतीत दर्शन

इतिहास और कल्पना के सुन्दर समन्वय से सृजित प्रसादजी का यह भ्रुवस्वामिनी नाटक हमारे पुरातन अतीत के गौरव की बड़ी भव्य झलक लेकर सामने आया है। यह नाटक जिस युग से सम्बन्धित है उस समय की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति बड़े यथार्थ रूप में उसमें प्रस्तुत की गई है।

भ्रुवस्वामिनी के पृष्ठों में आज से लगभग डेढ़ हजार वर्षों पूर्व के इतिहास का एक प्रसंग नाटककार ने संजोया है। यह वह युग था जब सम्राट समुद्रगुप्त की दिग्विजय यात्रा के कारण गुप्तवंश का गौरव उन्नति के सोपानों पर बड़ी तीव्रता से ऊंचा उठ रहा था। शक, हूण आदि बर्बर जातियाँ परास्त की जा चुकी थीं। सम्राट समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात अवश्य गुप्त वंश की समृद्धि में व्याघात उत्पन्न हुआ। सम्राट समुद्रगुप्त के पश्चात राज्य-नियम के अनुसार उनका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त गुप्तवंश की गद्दी पर बैठा और उसकी अयोग्यता का लाभ उठाकर शक आदि आक्रमणकारी जातियाँ सिर उठाने लगीं थीं।

इस राजनीतिक अवस्था के साथ-साथ उस युग की सामाजिक अवस्था में भी कुछ विश्रृंखलता आ गई थी। स्त्रियों को पुरुषों की भाँति समान अधिकार प्राप्त न थे। वे पुरुषों की व्यक्तिगत सम्पत्ति मात्र थीं। सोने चाँदी हाथी घोड़े आदि राजनीतिक उपहारों की भाँति वे भी भेंट रूप में एक के हाथों दूसरों को प्रदान की जा सकती थीं। नारी जाति का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न था, फिर भी नारी पुरुष के पूर्णतः अधीन न थी। उसके लिए मोक्ष (तलाक) की व्यवस्था का विधान था। वह चाहे तो किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के बीच अपने पति को छोड़ कर दूसरों के साथ पुनर्विवाह कर सकती थी।

इस दृष्टि से समाज में धर्मशास्त्र के नियामक पुरोहित का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। स्त्री अपने पति का त्याग कर सकती है अथवा नहीं, इसका निर्णय उसके ही हाथों में था। समाज में पर्दा प्रथा न थी। स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति अपने विचार प्रगट करने और निर्णय देने का अधिकार था।

राज्य के नियमों की व्यवस्था भी राज्य परिषद् करती थी। राज्य परिषद् को इतना अधिकार था कि यदि वह राजा को शासन के अयोग्य समझे तो उसे हटाकर राज्यकुल के ही दूसरे योग्य व्यक्तियों को शासन का अधिकार सौंप सकती थी। राज्य-परिषद् में अमात्य की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी। उस समय की राज्यव्यवस्था का यह विधान था कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही शासन का उत्तराधिकारी बने। परन्तु पिता यदि चाहे तो वह अपने पुत्रों में से किसी को भी अपना उत्तराधिकारी बना सकता था।

ध्रुवस्वामिनी नाटक अपने युग की इसी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था का चित्रण लिए हुए है। प्रसादजी ने रामगुप्त और शकराज के प्रसंग को लेकर उस समय की राजनीतिक दशा का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। शकराज अपने संधि प्रस्ताव में स्त्रियों की माँग करता है, और वे उसे सौंप दी जाती हैं। नाटक में व्यंजित यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि उस समय नारी की सामाजिक अवस्था क्या थी? स्वयं ध्रुवस्वामिनी अपने मन से रामगुप्त की पत्नी नहीं बनी। वह तो चन्द्रगुप्त से अनुराग रखती थी परन्तु गुप्त सम्राट की दिग्विजय यात्रा में अपने पिता द्वारा उपहार स्वरूप रामगुप्त को भेंट में दे दी जाती है। रामगुप्त उसे शकराज को सौंपने का निर्णय करता है और इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी राजनीतिक संप्रदान का साधन बनती है। अन्त में पुरोहित ध्रुवस्वामिनी के लिए मोक्ष की व्यवस्था का अधिकार प्रदान करता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त का परित्याग कर चन्द्रगुप्त से विवाह कर लेती है। राज्य-परिषद् के निर्माण से चन्द्रगुप्त सम्राट बनता है और रामगुप्त को राज्य-शासन छोड़ने के लिए विवश किया जाता है। इस प्रकार प्रसादजी के इस नाटक में उस युग का जीवन बड़ी सुन्दरता से व्यक्त हुआ है। यह सत्य है कि उस समयके युग-जीवन की बहुत थोड़ी भंगिमाओं को प्रसादजी ने छुआ है। इसका कारण यही है कि उस समय की राजनीतिक

सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अवस्था के व्यापक चित्रण की अपेक्षा नाटककार का ध्यान मूलतः नारी जाति की सामाजिक अवस्था पर ही केन्द्रित रहा है। अन्य सब बातें तो साधनमात्र हैं। इसीलिए उस समय के युग दर्शन को व्यापक रूप में नाटककार ने ग्रहण नहीं किया है। वैसे भी नाटक की कथावस्तु छोटी है, घटनाएँ और पात्र अधिक नहीं हैं, फलतः उस समय के युग के जीवन को व्यापक और सम्पूर्ण रूप में चित्रित करना नाटककार के लिए संभव भी न था। फिर भी उस समय के युग का जो स्वरूप नाटककार ने हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है वह बड़ा प्राणवान्, स्पष्ट और वर्तमान के लिए प्रेरणाप्रद है।

वर्तमान की चेतना

प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे अपने युग के जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति ही लेकर नहीं आए अपितु वर्तमान के लिए बड़ी सशक्त प्रेरणा बनकर आए थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में लिखा है “वे प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यावली का सहारा लेते अवश्य थे, पर उनकी विनियोजना इस प्रकार करते थे कि उससे वर्तमान काल की समस्याओं का हल सूझे और भावी मानवीय संस्कृति का भी कुछ प्रकाश मिल जाय। उनके ऐतिहासिक नाटक पीछे लौटने की सजाह लेकर नहीं आए, आगे बढ़ने की प्रेरणा लेकर आए थे।”

ध्रुवस्वामिनी का ऐतिहासिक नाटक नारी जागरण की महत्त्वपूर्ण प्रेरणा बनकर हमारे सामने आया है। प्रसादजी का काल नारी जागरण का युग था। आर्य समाज के सुधारवादी आंदोलनों की चारों ओर धूम थी। विधवा विवाह की माँग जोरदार शब्दों में उठाई जा रही थी। प्रसादजी ने अपने इस नाटक में ऐतिहासिक कथावस्तु का सहारा लेते हुए विधवा विवाह के औचित्य को सिद्ध किया है।

विधवा विवाह के इस औचित्य को ही नहीं, प्रसादजी ने युग-युग से अभिशापित, पददलित और शोषित नारी जाति के अधिकारों के लिए जोरदार आवाज उठाई है। आज नारी जाति की सामाजिक अवस्था बड़ी दयनीय है। विवाह के नाम पर वे मूक पशुओं की भाँति चाहे जिसके गले में बाँध दी

जाती हैं। उनकी इच्छाओं, भावनाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। विवाह के पश्चात् भी उन्हें पूर्णतः पुरुष की इच्छा के अधीन रहना पड़ता है। उनका अपना अस्तित्व रहता ही नहीं। पुरुष चाहे नारी पर कितना ही अत्याचार करे परन्तु नारी उसका कोई प्रतिकार नहीं कर सकती। समाज, धर्म, कानून उसे कोई ऐसी सुविधा प्रदान नहीं करता। दुर्भाग्यवश यदि नारी विधवा हो जाय तो उसे जीवनभर वैधव्य की आग में जलना पड़ता है। पुनर्विवाह करने का उसे कोई अधिकार नहीं रहता।

आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व ध्रुवस्वामिनी जैसी नारी को भी इसी स्थिति का सामना करना पड़ा था। वह रामगुप्त जैसे कापुरुष की बलात् पत्नी बना दी गई। जिसे वह हृदय से बिल्कुल नहीं चाहती। यही नहीं रामगुप्त द्वारा वह शकराज को सौंप दी जाती है। अन्त में उस समय की धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था का विधान ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष का अधिकार प्रदान करता है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त को त्यागकर चन्द्रगुप्त को वरण करती है।

प्रसादजी की दृष्टि में पुरुष जाति के शोषण और अत्याचारों से आज की नारी को मुक्त करने के लिए हमें अपनी सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं को बदलना होगा। नवीन सामाजिक व्यवस्थाओं और मर्यादाओं को जन्म देना होगा। विवाह के नाम पर आज जो नारी जाति को पुरुष के अधीन बनाने की व्यवस्था की जाती है, उसे रोकना होगा। प्रसादजी के मत में “स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास पूर्वक अधिकार, रक्षा और सहयोग ही विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।” फलतः विवाह के पश्चात् यदि नारी और पुरुष का दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं रह पाता, नारी अपने पति से सन्तुष्ट नहीं रहती तो उसे भी मोक्ष (तलाक) की व्यवस्था का अधिकार मिलना चाहिए जिससे कि वह पुनर्विवाह कर सके। समाज की सुख, शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि नारी और पुरुष का दाम्पत्य जीवन सुखी और सम्पन्न हो। दाम्पत्य जीवन के सौख्य के लिए यह आवश्यक है कि नारी और पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हों। एक स्तर पर वे परस्पर सहयोग की भावना लिए आनन्दमय जीवन बिता सकें। इसके लिए नारी जाति को उचित, धार्मिक और सामाजिक संरक्षण प्राप्त हो। अपने ध्रुव-

स्वामिनी नाटक द्वारा प्रसादजी ने नारी जागरण का यही महान संदेश आज के वर्तमान समाज को प्रदान किया है ।

ध्रुवस्वामिनी में वर्तमान काल की नारी समस्या को ही नहीं छुआ गया अपितु वर्तमान काल की राजनीतिक अवस्था के लिए भी यह नाटक महान् प्रेरणा का रूप लेकर आया है । ध्रुवस्वामिनी की रचना जिस काल में हुई वह युग राजनीतिक दृष्टि से घोर असफलता और निराशा का युग था । प्रथम महायुद्ध के पश्चात् देश की आर्थिक अवस्था बड़ी दयनीय हो गई थी । राजनीतिक आन्दोलन कुचल दिए गए थे । देश के लोगों को अपने स्वर्णों और अधिकारों से वंचित किया जा रहा था । प्रसादजी के ध्रुवस्वामिनी नाटक में भी हमें ऐसी ही स्थिति की झलक मिलती है । अयोग्य दुर्बल सम्राट रामगुप्त का शासनकाल भी ऐसा ही था । बर्बर शकराज द्वारा नारियों की माँग की जाती है और उसका प्रतिकार नहीं होता । निरपराध चन्द्रगुप्त जैसे लोगों को उसके स्वर्णों और अधिकारों से वंचित कर बंदी बना लिया जाता है । जनसाधारण में रोष और लोभ फैलता है । अन्त में ध्रुवस्वामिनी जैसी वीर नारी और चन्द्रगुप्त जैसा वीर पुरुष कंधे से कंधा मिड़ाकर इस स्थिति से सघर्ष करते हुए उस पर विजय प्राप्त करते हैं । आज भी नारी और पुरुष के सहयोग से वर्तमान काल की राजनीतिक और सामाजिक दुरवस्था का अन्त हो सकता है ध्रुवस्वामिनी का यह जीवन्त-संदेश आज भी हमें प्रेरणा दे रहा है ।

—————

ध्रुवस्वामिनी में नारी समस्या

ध्रुवस्वामिनी की मूल समस्या नारी समस्या है। नारी और पुरुष के सामाजिक जीवन की अनेक भंगिमाओं को नाटककार प्रकाश में लाया है, अनेक प्रसंगों को उसने उठाया है। विवाह का बन्धन नारी और पुरुष को सामाजिक जीवन के सूत्र में बद्ध करता है। व्यक्ति और समाज दोनों ही के कल्याण के लिए नारी और पुरुष का वैवाहिक सूत्र में बँधना आवश्यक है। नाटककार की दृष्टि में “स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास पूर्वक अधिकार, रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है।” विवाह का यह रूप ही नारी और पुरुष के सामाजिक जीवन के लिए मंगलकारी है। यदि वैवाहिक बंधन के पश्चात् नारी और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध मधुर नहीं रहते, तो यह बात व्यक्ति और समाज दोनों ही रूपों में परम अनिष्टकारी है। ऐसी स्थिति में जबकि पुरुष नारी के अधिकारों का हनन करता हुआ उस पर अत्याचार करे, धर्मशास्त्र नारी को क्या संरक्षण प्रदान करता है, पुरुष के शोषण से नारी जाति की मुक्ति के लिए क्या व्यवस्था प्रदान करता है आदि समस्याओं को नाटककार ने अपने नाटक में उठाया है और अन्त में उनका हल भी प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि विवाह के रूप में नारी और पुरुष का जो बंधन है वह केवल सामाजिक बंधन ही नहीं धार्मिक बंधन है। वह अत्यन्त दृढ़ होता है। केवल मात्र नारी और पुरुष के द्वेषभाव से नहीं टूट सकता। परन्तु पति यदि अपने गौरव से नष्ट, आचरण से पतित, और क्लीव हो जो अपनी पत्नी की रक्षा न कर सके, ऐसी अवस्था में पति का अपनी स्त्री पर कोई अधिकार नहीं रहता है। स्त्री चाहे तो अपने पुरुष का परित्याग कर सकती है। धर्मशास्त्र उसे निसंकोच रूप में पति से मोक्ष (तलाक) की व्यवस्था प्रदान करता है।

ध्रुवस्वामिनी नाटक की यही मूल संवेदना है और सारी कथावस्तु, समस्त

पात्र, इसी एक नारी जीवन की समस्या से गुथे हुए हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक भी वस्तुतः नारी पर पुरुष जाति के अत्याचार और उससे मुक्ति की कहानी है। नाटक पर आद्योपांत छाया हुआ ध्रुवस्वामिनी का चरित्र एक प्रकार से शोषित और पददलित नारी जीवन के विद्रोह, संघर्ष और मुक्ति का प्रतीक बन कर आया है।

सामाजिक दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की पत्नी है, परन्तु यह विवाह अधम और राक्षस है। फलतः व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए अमंगलकारी है। विवाह के पश्चात् ध्रुवस्वामिनी वैवाहिक जीवन का तनिक भी सुख नहीं पाती। उसका पति विलासी है, उन्मत्त और मद्यप है। ध्रुवस्वामिनी ने कभी उसका मधुर संभाषण सुना ही नहीं। ध्रुवस्वामिनी को सदैव अपने पति के संदेह के कारण गूँगों, बहरों और हिजड़ों के नियन्त्रण में रहना पड़ता है। यही नहीं अपने व्यवहार से रामगुप्त अपने को सर्वथा कायर अयोग्य और दुर्बल प्रमाणित करता है। यहाँ तक कि वह शकराज से ध्रुवस्वामिनी का पति होना भी अस्वीकार कर देता है “मैंने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर कदापि नहीं।” ध्रुवस्वामिनी को वह पशुओं की भाँति अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझता है और इसीलिए कहता है “जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को दे देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्या आपत्ति है।” ध्रुवस्वामिनी की यह करुणाभरी विनय भी रामगुप्त द्वारा ठुकरा दी जाती है “मेरे पिता ने उपहार स्वरूप कन्यादान किया था, किन्तु गुप्त सम्राट क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देंगे? देखिए मेरी ओर देखिए! मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके।”

ऐसी स्थिति में ध्रुवस्वामिनी अपने को रामगुप्त की सहधर्मिणी बनने से इन्कार कर देती है। वह उस धर्मशास्त्र को झूठा बतलाती है जो विवाह की मर्यादा को स्थिर करता है परन्तु विवाह के पश्चात् नारी जीवन को संरक्षण प्रदान नहीं कर सकता। इसीलिए मन्दाकिनी धर्माधिकारी को सम्बोधित

करती हुई कहती है, “आर्य आप बोलते क्यों नहीं ? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म बन्धन में बाँध कर उनकी सम्पत्ति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार-कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें। क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप संतुष्ट रहने की आशा देकर विश्राम ले लेते हैं।” फलतः नारी जाति को संरक्षण प्रदान करने के लिए धर्माधिकारी पुनः व्यवस्था करता है “विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रांतिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से नहीं टूट सकते, परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है। यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-क्लिविषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं। ××× मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।”

वस्तुतः युग-युग से नारी जाति पुरुष के अत्याचारों और शोषण का शिकार बनती आई है। विवाह के सूत्र में बँध जाने के पश्चात् वह पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाती है और मूक पशुओं की भाँति उनकी उचित अनुचित इच्छाओं का पालन करती है। उनकी मुक्ति का कोई मार्ग नहीं, उनकी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं, उनके अधिकारों का कोई विधान नहीं। मन्दाकिनी के शब्दों में नारी जाति की कितनी असहाय दशा है “अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, धृणा, और दुर्दशा की भित्ति से उप-कृत करता है।” नाटककार इस असहनीय दशा से मुक्ति पाने के लिए ध्रुवस्वामिनी के रूप में नारी जाति को विद्रोह की प्रेरणा देता है “पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच

भी नहीं सकते ।” अन्त में धर्माधिकारी द्वारा प्रदत्त मोक्ष (तलाक) की व्यवस्था के रूप में ध्रुवस्वामिनी नहीं, नारी जाति अपने संघर्ष में विजयनी होती है ।

ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी ने नारी जीवन के एक दूसरे पहलू को भी हमारे सामने रखा है । नाटक कार की दृष्टि में स्त्री जाति का सम्मान ही सबसे बड़ा गौरव और सबसे बड़ी मर्यादा है । स्त्री सम्मान को नष्ट करने जैसा भयानक अपराध दूसरा है ही नहीं । रामगुप्त इसी भयङ्कर अपराध का भागी बन अपने नाश को प्राप्त होता है, और यही चेतावनी मिहिरदेव शकराज को देता हुआ कहता है “स्त्री का सम्मान नष्ट करके जो भयानक अपराध करोगे उसका फल क्या अच्छा होगा ?”

नारी इसीलिए इतने बड़े गौरव की अधिकारिणी है क्योंकि वह ज्ञान, ममता, करुणा की मूर्ति होती है । पुरुष के प्रति उसके प्रेम में स्वर्गीय ज्योति का निवास होता है । पुरुष के प्रेम में अनुरक्त होकर पुरुष के लिए वह अपने जीवन का उत्सर्ग करना जानती है । नारी ने अपने इन्हीं गुणों से पुरुष की बर्बरता और कठोरता को, हिंस्र प्रवृत्तियों को कोमलता, ममता और मानवता का पाठ पढ़ाया है । इसलिए नारी पुरुष से कहीं अधिक श्रेष्ठ है । निस्संदेह कोमा के पावन चरित्र द्वारा नारीत्व के इस भव्य आदर्श की भाँकी नाटककार ने बड़ी कुशलता के साथ हमें प्रदान की है ।

ध्रुवस्वामिनी में एक दूसरी समस्या पर भी विचार किया गया है । राजा यदि अयोग्य और शासकौचित गुणों से रहित हो तो प्रजा के प्रति-निधियों का कर्तव्य है कि वह उसके स्थान पर किसी योग्य व्यक्ति को शासन का अधिकार प्रदान करे । ध्रुवस्वामिनी नाटक में रामगुप्त अपनी कायरता और अविवेक के कारण सम्राट होने के सर्वथा अयोग्य प्रमाणित होता है । फलतः राज्य परिषद का निर्णय उसे राज्याधिकार से वंचित कर चंद्रगुप्त को सम्राट घोषित करता है जो कि राज्य का शासक बनने के लिए सभी प्रकार से योग्य है ।

ध्रुवस्वामिनी नाटक की अन्य विशेषताएँ

रस योजना—

रस की प्रतिष्ठा सबसे पहिले नाटकों में मानी गई हैं, इसीलिए रसवाद का सर्वप्रथम उल्लेख हमें नाटकों के सम्बन्ध में मिलता है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में रस सिद्धान्त की सम्यक प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है— विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति' अर्थात् विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो हृदय के स्थायी भावों को जागृत और उद्दीप्त करने में सहायक बनती हैं। फलतः इस निष्पत्ति के कारण विभाव ही हैं। इसीलिए इन्हें रस का कारण भी कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१—आलम्बन जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं, जैसे नायक नायिका आदि। २—उद्दीप्त—जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते हैं। अमूर्त भाव जागृत होकर शरीर पर जो प्रभाव प्रदर्शित करते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं। इस प्रकार अनुभाव भावानुभूति के व्यक्त प्रभाव हैं। व्यभिचारी या संचारी भाव उस अल्पकालिक मानसिक स्थिति का पर्याय है जो विभाव से जागृत होकर अनुभाव विशेषों के माध्यम से व्यक्त होकर स्थायी भावों का पोषण करती हुई उन्हीं में विलीन हो जाती है।

ध्रुवस्वामिनी में वीर रस प्रधान है और शृङ्गार रस सहायक रूप में व्यंजित हुआ है। स्थायी भाव उत्साह है। रामगुप्त आलम्बन रूप में है क्योंकि उसी के कारण ध्रुवदेवी के उत्साह पूर्ण और वीरता भरे कार्यों की अवतारणा होती है। शकराज का संधि प्रस्ताव आदि प्रसङ्ग उद्दीपन हैं जो स्थायीभाव उत्साह को उद्दीप्त और पुष्ट बनाते हैं। रामगुप्त का शकराज का बध करवाना, ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त को बन्दी बनाने का प्रयत्न करना आदि घटनाएँ भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। ध्रुवस्वामिनी की दर्प से भरी वीरता

पूर्ण बातें, चंद्रगुप्त के साथ शक दुर्ग में जाने की प्रसन्नता, धर्माधिकारी पुरोहित और सामन्तों के सामने अपने पक्ष का स्पष्टीकरण आदि सभी बातें अनुभव पक्ष की हैं। स्मृति, हर्ष, आवेग, गर्व, औत्सुक्य, वितर्क, उग्रता आदि संचारी भावों की योजना प्रसङ्गानुकूल स्थल-स्थल पर मिलती है। स्मृति का बहुत सुन्दर उदाहरण हमें उस स्थल पर मिलता है जहाँ पुरोहित को देखकर ध्रुवस्वामिनी की पुरानी स्मृति जाग पड़ती है “इन्हीं पुरोहित जी ने उस दिन कुछ मन्त्रों को पढ़ा था, उस दिन के बाद मुझे कभी राजा से सरल संभाषण करने का ही अवसर न मिला था।” अन्तिम अङ्क में उग्रता संचारी भाव का अच्छा निदर्शन हुआ है। शकराज के यहाँ जाने से पूर्व चंद्रगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के इस कथन में धृति का सुन्दर रूप है “तो कुमार हम लोगों का चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलम्ब की आवश्यकता नहीं।” इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से वीर रस की बड़ी सफल अभिव्यक्ति ध्रुवस्वामिनी में हुई है।

गीत योजना—

प्रसाद जी के नाटकों में गीतों का सुन्दर प्रयोग भी दृष्टव्य है। गीतों के रूप में प्रसाद जी के हृदय की सारी भावुकता और काव्यत्व मूर्तिमान हो उठा है। चंद्रगुप्त आदि नाटकों में प्रसाद जी ने अनेक गीतों की उद्भावना की है। उनका यह गीत साहित्य हिन्दी काव्य साहित्य की अमूल्य निधि है। प्रसाद जी मूलतः कवि हैं, फलतः नाटकों में गीतों की योजना उनके द्वारा होना स्वाभाविक ही था।

यहाँ प्रश्न यह है कि गीतों का होना नाटक में कहाँ तक उपयोगी है? संस्कृत नाटकों में गद्य के साथ-साथ पद्य का भी प्रयोग मिलता है। प्रसाद जी ने अपने कुछ नाटकों को छोड़कर गद्य-पद्य समन्वित कथोपकथन तो नहीं रखे हैं, हाँ गीतों की योजना अवश्य की है। इसमें संदेह नहीं कि नाटक के रस प्रवाह को तीव्र और पुष्ट बनाने में गीतों का प्रयोग बड़ा उपादेय सिद्ध होता है। गीतों का माधुर्य नाटक की शोभा को बढ़ा देता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि गीतों की योजना परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल हो।

गीत व्यर्थ की भरती से प्रतीत न हों। गीत केवल गीत लिखने के उद्देश्य से न हों अपितु नाटकीय अनुकूलता को लिए हुए हों।)

यहाँ हमें नाटक में गीतों के प्रयोग की इसी कसौटी पर ध्रुवस्वामिनी की गीत योजना को परखना है। ध्रुवस्वामिनी में केवल चार गीत हैं। दो मंदाकिनी द्वारा गाए गए हैं, एक कोमा द्वारा और अन्तिम शंकराज की नर्तकियों द्वारा। मंदाकिनी द्वारा गाया गया 'यह कसक अरे आँसू सहजा' बाला गीत न तो प्रसङ्गानुकूल ही है और न भावानुकूल ही। यह गीत किसी वियोगिनी दुखिया वाला के मुँह से कहीं अधिक शोभा पाता। पर मंदाकिनी न तो वियोगिनी है और न कोई दुखिया। गीत गाने से पहले उसका जो रूप है वह तो क्षोभ, रोष और आक्रोश से भरा है। ऐसी स्थिति में गीत का यह कोमल रूप कदापि उचित नहीं। ऐसा प्रतीत होता है मानों नाटककार ने केवल गीत रचना के ही उद्देश्य से इसको रचा है।

मंदाकिनी द्वारा गाया गया दूसरा गीत अवश्य वातावरण और प्रसंग के अनुकूल है। परन्तु गीत का जो रूप है वह इतना ओजस्वी और बलदायक नहीं है जितना कि उसे होना चाहिए।

द्वितीय अङ्क में कोमा द्वारा गाया गीत "थौवन तेरी चंचल छाया" बड़ा भावपूर्ण और सुन्दर है। वह जहाँ एक ओर वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल है, वहीं कोमा के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला तथा सामाजिकों के हृदय में रस संचार की अपूर्व सृष्टि करने वाला है। यह गीत निस्संदेह नाटकीय गौरव को बढ़ाने वाला है। नर्तकियों द्वारा गाया जाने वाला गीत उनके अनुरूप ही है। इस गीत में कोई विशेषता नहीं है। अधिक अलंकृत शैली ने गीत के माधुर्य को ढक दिया है। इस प्रकार जहाँ तक गीत योजना का प्रश्न है, ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी अधिक सफल नहीं हुए।

अन्तर्द्वंद्व और बहिर्द्वंद्व

प्रसाद जी के नाटक संघर्ष प्रधान हैं। यह संघर्ष नाटक के घटना व्यापारों में ही नहीं है अपितु पात्रों के हृदय में भी है। ध्रुवस्वामिनी के सभी प्रमुख पात्र अपने हृदय में दो विरोधी भावों का द्वंद्व लिए हुए हैं। ध्रुवस्वामिनी की नायिका रामगुप्त की पत्नी है परन्तु वह अनुराग चन्द्रगुप्त से रखती है।

परन्तु वह विवश है। पत्नीत्व के आदर्श के कारण अपने हृदय के इस द्वंद को को प्रगट नहीं कर सकती। वह अपने हृदय पर उझली रखकर इतना ही कह पाती है “‘इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरङ्ग ‘हाँ’ करना चाहता है तब ऊपरी मन ‘ना’ क्यों कहला देता है।’” अन्त में ध्रुवस्वामिनी का प्रणय भाव उसके झूठे पत्नीत्व के आदर्श पर विजय प्राप्त करता है। वह बिना किसी संकोच के रामगुप्त की सहधर्मिणी बनना अस्वीकार कर देती है और चन्द्रगुप्त का वरण करती है। परिस्थितियाँ उसकी सहायक बनती हैं।

ध्रुवस्वामिनी का दूसरा प्रमुख पात्र रामगुप्त है। ध्रुवस्वामिनी उसकी पत्नी है। परन्तु उसे सन्देह है कि ध्रुवस्वामिनी उससे प्रेम नहीं करती वह चन्द्रगुप्त को चाहती है। इसीलिए रामगुप्त अपने हृदय पर हाथ रखकर कहता है ‘युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है, देखता नहीं, जगत की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज।’ अपने हृदय के इसी संघर्ष के कारण रामगुप्त चन्द्रगुप्त को अपने मार्ग से हटाना चाहता है। चन्द्रगुप्त को स्त्री वेश में शकदुर्ग में जाने का आदेश देता है। ध्रुवस्वामिनी को शकराज के हाथों सौंपने का संधि प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

चन्द्रगुप्त का हृदय भी एक ओर ध्रुवस्वामिनी के प्रति प्रणयभाव तथा दूसरी ओर गुप्त वंश की कुल मर्यादा के पालन को लेकर संघर्ष का घर बना हुआ है। राज्यकुल की मर्यादा के लिए चन्द्रगुप्त ने अपना राज्याधिकार छोड़ा और साथ ही ध्रुवस्वामिनी को भी। राज्यकुल की मर्यादा की ही बात करते हुए चन्द्रगुप्त कहता है “मेरे हृदय के अंधकार में प्रथम किरण सी आकर जिसने अज्ञानभाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि”—परन्तु परिस्थितियाँ चन्द्रगुप्त को विवश करती हैं कि वह अपने स्वत्वों और अधिकारों की माँग करे। विनय और शील के आवरण में अपने अधिकारों से वंचित न हो। उसके हृदय का यह अन्तर्द्वन्द्व उसके इन शब्दों में मूर्तिमान बन गया है “वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। मेरे हृदय के गहन अन्तस्तल से निकली हुई यह मूक स्वीकृति आज बोल रही है। मैं

पुरुष हूँ ? नहीं मैं अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों के अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नहीं रही। नहीं, यह शील का कपट, मोह और प्रवंचना है। मैं जो हूँ, वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका। यह कैसी बिड़म्बना है। विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी ?” अन्त में चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को अपनी सहधर्मिणी बनाकर शील और विनय के इस भूटे आवरण को उतार ही फेंकता है।

ध्रुवस्वामिनी नाटक की एक महत्त्वपूर्ण नारी पात्रा कोमा है। प्रणय भावुकता और कोमलता की मूर्ति, जो भूल से कठोर, बर्बर शकराज से प्रेम कर बैठी है। शकराज के द्वारा उसे तिरस्कार और उपेक्षा के कड़वे घूँट पीने को मिलते हैं। फिर भी कोमा का प्रणयी हृदय शकराज को छोड़ना नहीं चाहता। उसके पिता मिहिरदेव उससे चलने का आग्रह करते हैं, पर कोमा यही कहती है “तोड़ डालूँ पिताजी ! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा वही दुलार भरी वल्लरी मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई। दे दूँ एक भटका, उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल जायँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे। न ऐसी कठोर आज्ञा न दो।” मिहिरदेव धूमकेतु की ओर संकेत करते हुए कोमा को समझाते हैं कि शकराज के साथ रहने में अमङ्गल है। फलतः कोमा के हृदय में प्रणय और विवेक का संघर्ष छिड़ता है। अन्त में विवेक की प्रणय भाव पर विजय होती है। कोमा शकराज का साथ छोड़कर चल देती है।

इस प्रकार पात्रों के हृदय का यह अन्तर्द्वन्द्व, बाह्यद्वन्द्व को जन्म देता है और स्वयं भी नाटक की संघर्ष पूर्ण परिस्थितियों से प्रभावित होता है। परिस्थितियों के इन घात प्रतिघातों के बीच पात्रों के चरित्र का विकास होता है और साथ ही नाटकीय गति में तीव्रता और आकर्षण का समावेश भी। इसमें सन्देह नहीं ध्रुवस्वामिनी नाटक इस रूप में बहुत ही उच्च कलात्मक धरातल पर स्थित है।

नियतिवाद

प्रसाद जी के प्राय सभी प्रमुख नाटकों में नियतिवाद की गहरी छाया

व्याप्त है। दुख और कठिनाइयों के बीच उनके सभी प्रमुख पात्र नियति की बातें करने लगते हैं। नियति को ही वे अपने जीवन का नियामक मानते हैं। ध्रुवस्वामिनी नाटक में अपनी स्थिति से विवश होकर ध्रुवस्वामिनी कहती है “जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्मविज्ञापन का भार ढोती गूँ—यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है ? छुटकारा नहीं ? जीवन नियति के कठिन आदेश पर चलेगा ही ?” ध्रुवस्वामिनी द्वारा चन्द्रगुप्त को किया गया आलिंगन भी जैसे नियति का ही आग्रह था “कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन। कितने सन्तोष से भरा था ! नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन से सायंकालीन शीतल आकाश में मिला दिया हो।”

चन्द्रगुप्त जैसा वीर हृदयी युवक भी नियतिवाद से प्रभावित है। अदृष्ट ही उसका सहायक है। नियति के ही कारण वह ध्रुवस्वामिनी को अपनी पत्नी नहीं बना सका। इसीलिए तो वह कहता है “विधान की स्याही का एक बिन्दु गिर कर भाग्यलिपि पर कालिमा चढ़ा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवस्वामिनी मेरी है।”

नियतिवाद का रूप ध्रुवस्वामिनी में इतना प्रखर है कि शकराज जैसा पुरुषार्थी भी जो सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता के भय मानता है, पुरुषार्थ को भी सौभाग्य का जनक समझता है। अन्त में धूमकेतु को देख कर भावी अमंगल की आशङ्का से भयभीत हो उठता है।

नियतिवादी होते हुए भी ध्रुवस्वामिनी के पात्र हमें कर्मठता का संदेश देते हैं। चन्द्रगुप्त को अदृश्य से अधिक अपने बाहुबल पर विश्वास है। आत्महत्या को प्रस्तुत ध्रुवस्वामिनी से भी चन्द्रगुप्त यही कहता है “देवि जीवन विश्व की संपत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से या दुख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं।” कर्मठता का यही संदेश लिए नाटक के सत् पात्र विषम परिस्थितियों और बाधाओं को पार करते हुए अन्त में सफलता के अधिकारी बनते हैं।

अभिनयात्मकता

ध्रुवस्वामिनी नाटक की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी अभिनयात्मकता

है। प्रसादजी की नाट्यकला पर आलोचकों द्वारा सबसे बड़ा दोष यही लगाया जाता था कि वह अभिनय योग्य नहीं है। प्रसाद जी के नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किए जा सकते। चन्द्रगुप्त और स्कंदगुप्त के नाटकों के विषय में यह बात सच भी है। वे नाटक सचमुच अभिनय योग्य नहीं हैं। रंगमंच की अनुकूलता के लिए उनमें बहुत काट छूट की आवश्यकता है। परन्तु ध्रुवस्वामिनी के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। हम उसे चन्द्रगुप्त और स्कंदगुप्त की परम्परा में नहीं रख सकते। रंगमंच की अनुकूलता के कारण ध्रुवस्वामिनी नाटक पूर्णतः अभिनय योग्य है और वह बिना किसी विशेष परिवर्तन के भली प्रकार रंगमंच पर अभिनीत किया जा सकता है।

रंगमंच की अनुकूलता की दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी में सब से बड़ी विशेषता यह है कि थोड़े ही पटों के परिवर्तन से सारा नाटक अभिनीत हो सकता है। केवल एक यवनिका और दो पटों से काम चल सकता है। नाटक के समस्त घटना व्यापार प्रायः एक ही स्थल पर घटित होते हैं। इसीलिए एक पट पर्वत-प्रदेश का और दूसरा दुर्ग के प्रांगण अथवा प्रकोष्ठ का होना पर्याप्त है। प्रसाद जी के अन्य नाटकों में स्थान-स्थान पर इतने अधिक पट-परिवर्तन की आवश्यकता होती है कि दृश्यों का प्रदर्शन अव्यावहारिक होता है। ध्रुवस्वामिनी में यह दोष नहीं है। यही नहीं ध्रुवस्वामिनी नाटक तीन अङ्कों में विभाजित है और एक अङ्क में केवल एक ही दृश्य है। अङ्क पूर्णतः घारा प्रवाहित हैं। फलतः ध्रुवस्वामिनी में बार बार शीघ्रता के साथ पट परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। इससे सामाजिकों के रस प्रवाह में व्याघात उत्पन्न नहीं होने पाता। चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु आदि नाटकों में एक एक अङ्क कई दृश्यों में विभाजित होने के कारण ध्रुवस्वामिनी जैसी रंगमंचीय अनुकूलता दृष्टिगोचर नहीं होती।

ध्रुवस्वामिनी नाटक का कलेवर भी छोटा है। इसलिए वह थोड़े ही समय में सरलता के साथ रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है। कथानक का रूप जटिल नहीं है। पात्र भी थोड़े हैं। ध्रुवस्वामिनी में घटना व्यापारों से सम्बन्धित जिन दृश्यों की योजना की गई है वे सब के सब बिना किसी

कठिनाई के रंगमंच पर दिखलाए जा सकते हैं। असंभव कार्य व्यापार ध्रुवस्वामिनी में नहीं है। यही नहीं हिजड़ों और बौनों के हास परिहास पूर्ण दृश्य, ध्रुवस्वामिनी का आत्महत्या के लिए प्रस्तुत होना और चन्द्रगुप्त का प्रवेश, मिहिरदेव का धूमकेतु की ओर संकेत तथा शकराज का भयभीत होना, ध्रुवस्वामिनी तथा स्त्री वेश में चन्द्रगुप्त का शकदुर्ग में प्रवेश और शकराज का बध, रामगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त का बन्दी बनाया जाना आदि दृश्य रंगमंच के आकर्षण की दृष्टि से बड़े रोचक हैं। सामाजिकों के हृदय में रस संचार करने की उनमें अपूर्व क्षमता है।

इस रंगमंचीय अनुकूलता के अतिरिक्त ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथनों में जो तीव्रता और प्रखरता है वह भी नाटक की अभिनयात्मकता में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है। कथोपकथन लम्बे नहीं हैं, अपितु छोटे छोटे उत्तर प्रत्युत्तरों के रूप में होने के कारण व्यावहारिक हैं। दर्शकों के लिए वे अरुचिकर नहीं बन पाते। इतना अवश्य है कि नाटक की भाषा कहीं-कहीं अत्यन्त क्लिष्ट और संस्कृत निष्ठ होगई है। एक औसत पाठक या दर्शक के लिए उसका रूप अव्यावहारिक बन गया है। प्रसादजी के सभी नाटकों में यह दोष बड़ी स्पष्टता के साथ विद्यमान है और इसका निराकरण ध्रुवस्वामिनी में भी नहीं होने पाया है।

पाश्चात्य और भारतीय नाट्यशैली का समन्वय

प्रसादजी ने अपने नाटकों में जहाँ भारतीय नाट्यशैली की परम्परा का समावेश किया है वहीं पाश्चात्य नाट्य शैली के प्रभाव को भी ग्रहण किया है। ध्रुवस्वामिनी में यह बात और भी अधिक स्पष्ट है। पाश्चात्य नाट्य शैली से प्रेरणा ग्रहण करते हुए प्रसादजी ने ध्रुवस्वामिनी में विष्कम्भक, नांदी सूत्रधार आदि संस्कृत नाट्य शैली की परम्पराओं को स्थान नहीं दिया। संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार रंगमंच पर हत्या, मृत्यु, आलिंगन के दृश्य दिखलाना वर्जित हैं, परन्तु ध्रुवस्वामिनी में ऐसे दृश्यों की योजना की गई है। रामगुप्त, शकराज का बध होता है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त का आलिंगन करती है। यही नहीं, वेषभूषा, स्थिति परिचय और रंगमंचीय सजावट आदि को लेकर विस्तृत निर्देश नाटककार ने अपने इस नाटक में दिए हैं। यह बात

केवल ध्रुवस्वामिनी नाटक में ही मिलती है। ध्रुवस्वामिनी से पूर्व प्रसादजी के अन्य नाटकों में यह बात दृष्टिगोचर ही नहीं होती।

पाश्चात्य नाट्य शैली के अनुसार ध्रुवस्वामिनी नाटक में सबसे महत्वपूर्ण बात कथावस्तु की योजना का संघर्ष मूलक होना है। पुरुष जाति के शोषण से नारी का विद्रोह, इसी संघर्ष की भूमिका पर ध्रुवस्वामिनी नाटक आधारित है। संघर्ष कथावस्तु में ही नहीं पात्रों के हृदय में, चरित्र में है। इसी अन्तर्द्वन्द और बहिर्द्वन्द के घात-प्रतिघात के बीच पात्रों का चारित्रिक विकास हुआ है और साथ ही नाटक का कथानक विकसित हुआ है।

आधुनिक नाटकों की भाँति ध्रुवस्वामिनी भी एक प्रकार से समस्या-प्रधान नाटक है। इसमें नारी समस्या का जो कि सर्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वभौमिक है, चित्रण बड़ी कुशलता से किया गया है। इतना अवश्य है कि आधुनिक नाटकों में जहाँ किसी समस्या को प्रस्तुत कर नाटककार मौन बन जाता है, समस्या का हल नहीं प्रदान करता, वहाँ अपने ध्रुवस्वामिनी नाटक में प्रसादजी ने नारी समस्या को सुलझाने का मार्ग भी सुझाया है।

पाश्चात्य नाट्य कला की भाँति ध्रुवस्वामिनी में संकलन त्रय का पूर्ण निर्वाह किया गया है। ध्रुवस्वामिनी में केवल एक ही मूल कथानक है। घटनाएँ एक ही स्थान से सम्बन्ध रखती हैं तथा घटनाओं के घटित होने का समय भी बहुत थोड़ा है। इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी में स्थल, कार्य और समय की अपूर्व एकता है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसादजी का ध्रुवस्वामिनी नाटक पूर्णतः पाश्चात्य नाट्य शैली की वेश-भूषा से ही सुसज्जित होकर आया है। सत्य तो यह है कि ध्रुवस्वामिनी का शरीर तो पाश्चात्य नाट्य शैली के अनुरूप है परन्तु उसकी आत्मा मूलतः भारतीय है। भारतीय परम्परा के ही अनुसार ध्रुवस्वामिनी का रूप आदर्शवादी है। ध्रुवस्वामिनी में सत् और असत् प्रवृत्तियों का द्वंद होता है। अन्त में असत् प्रवृत्तियाँ पराजित होती हैं और सत् प्रवृत्तियाँ विजय को प्राप्त होती हैं। बुरे पात्र अपने बुरे कर्मों का फल पाते हैं तथा भले पात्रों को उनकी भलाई का पुरस्कार मिलता है। रामगुप्त

और शकराज का संहार होता है । ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त अपने वीरोचित कार्यों से अपने अभीष्ट को प्राप्त करते हैं । भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक दुःखान्त न होकर सुखान्त हैं ।

ध्रुवस्वामिनी की कथावस्तु का संगठन भी भारतीय नाट्य शैली के अनुरूप है । कार्य की पाँचों अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और संधियों का सुन्दर निर्वाह किया गया है । 'रस' जिसकी निष्पत्ति भारतीय परंपरा के नाटकों का मूल आधार रहता है, उसकी सुन्दर योजना भी ध्रुवस्वामिनी में दृष्टव्य है । इस प्रकार प्रसादजी ने पाश्चात्य और भारतीय नाट्यशली के सुन्दर समन्वय से अपने ध्रुवस्वामिनी नाटक की सृष्टि की है ।

व्याख्या

प्रथम अङ्क

पृष्ठ ११

शब्दार्थ—प्राचीर=परकोटा, चहारदीवारी । चन्द्रातप=चँदोवा, वितान । शिविर=सेना के ठहरने का पड़ाव, डेरा ।

पृष्ठ १२

शब्दार्थ—अभ्रमेदी=आकाश को छूने वाला । शिखिर=पर्वत की चोटी । शैलमाला=पर्वत माला । इन्द्रजाल=जादूगरी । सम्पूर्ण...न मिलेगा क्या ? = क्या कोई भी पूर्ण मनुष्य नहीं दिखलाई पड़ता ? । अवरोध=अन्तःपुर ।

सीधा तना हुआ

चाहिए न ।

व्याख्या—शिखिर के शैल शिखिरों को सम्बोधित करती हुई नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी कहती है कि आकाश को छूने वाली ये स्वच्छन्द प्रकृति की सीधी तनी हुई पर्वत चोटियाँ अपने अधिकार के मद के कारण कितनी कठोर बनी हुई हैं । ये तुच्छ सी दीन हीन लताएँ और पेड़ पौधे इनके चरणों में डले हुए हैं । पर्वत मालाओं के कठोर प्रभुत्व के सामने पेड़, पौधों और लताओं का जीवन ऐसा करने के लिए विवश है । दूसरा कोई जीवन मार्ग उनके लिए है ही नहीं ।

विशेष—ध्रुवस्वामिनी के इन शब्दों में नाटक की जो मूल भावना है वह व्यंग्य रूप से गर्भित है । उन्मुक्त पर्वत शिखिर जैसे पुरुष जाति की प्रभुत्व मयी कठोरता का प्रतीक है और निरीह लताओं और पेड़ पौधों का रूप जैसे असहाय नारी जीवन की दयनीयता और विवशता का प्रतीक है ।

पृष्ठ १३

शब्दार्थ—अदृष्ट=नियति, भाग्य । स्वत्व=अधिकार ।

प्रत्येक क्षण...है। उनके प्राण किसी भी क्षण लिये जा सकते हैं।

पृष्ठ १४

शब्दार्थ—निरभ्र=बिना बादलों का आकाश। प्राची=पूर्व दिशा।
बाल अरुण=प्रभात कालीन सूरज। वल्लरी=लता। विछलन=फिसलन।

प्राणों की क्षमता

बन गई है।

व्याख्या—जब कोई थोड़े परिमाण में होती है तब उस पर फिसलन होती है और हम उस पर फिसल कर गिर पड़ते हैं। परन्तु जब वही कोई विशाल मात्रा में एकत्रित हो जाती है तब वही लता की भाँति दूसरों को ऊपर चढ़ाने का सहारा बन जाती है। इसी प्रकार प्रभुता और शक्ति से हीन मनुष्य दूसरों को गिराने में सहायक होता है, परन्तु प्रभुता और शक्ति प्राप्त कर वही दूसरों को ऊपर उठाने में सहायक बन सकता है।

मनुष्य के

आता है=मनुष्य के हृदय में शुभ भावनाओं के स्थान पर बुरी भावनाएँ कहाँ से आती हैं ?

पृष्ठ १५

शब्दार्थ—नीड़ों=घोंसलों। भट्टारक=सम्राट रामगुप्त। उत्तरीय=दुपट्टा।

पृष्ठ १६

शब्दार्थ—गिरि-पथ=पर्वतीय मार्ग। जो स्त्री रहता होगा=जो स्त्री किसी अन्य पुरुष की पत्नी होकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसके हृदय में प्रेम की बड़ी ही व्यापक और तीव्र रस धारा प्रवाहित होती होगी।

पृष्ठ १७

शब्दार्थ—प्रतिकूल=विरोध में। मेघ संकुल=काले बादलों से घिरा हुआ। मेघ संकुल ही चाहिए=काले बादलों से घिरे हुए आकाश की भाँति जिसका भविष्य अन्धकार मय हो ऐसी अवस्था में उस अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने के लिए उसकी बुद्धि भी बिजली के समान उदित होकर प्रकाश बिखेरती है और आपत्तियों को दूर करने का मार्ग ढूँढती है।

पृष्ठ १८

शब्दार्थ—विरोधी प्रकृति=प्रतिकूल अवस्था । वीरता जब ... धूल उड़ती है=जब मनुष्य के हृदय से वीरता के भाव विलीन हो जाते हैं जब उसका मन कायर बन जाता है, तब वह राजनीति के रूप में छल, कपट और धूर्तता का सहारा लेता है ।

पृष्ठ १९

शब्दार्थ—आवरण=पर्दा । समर्पण = त्याग । विस्मृति में अपने को छिपा लूँ=ये सारी बातें भूल जाऊँ । कसक=दुख । विनम्र=विनीत । अस्तित्व=विद्यमानता । नीरव गाथा=मौन कहानी ।

यह कसक

सहजा ।

व्याख्या—मन्दाकिनी कहती है कि है मेरे नेत्रों के आँसू तू हृदय की इस पीड़ा को सहन कर । तू स्थिर रह कर मेरे हृदय का अभिमान बन और मुझे अस्तित्व का ध्यान दिलाता रह कि अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए मैं जीवित हूँ । तू संसार के कोने-कोने में प्रेम का रूप लेकर अपनी कृपा और शान्ति भरी कहानी सुना । तू इस दुख से पीड़ित पृथ्वी को अपनी ममता भरी शीतलता से सींच दे ।

पृष्ठ २०

शब्दार्थ—हिमाचल=यहाँ कूबड़ से अभिप्राय है । नलकूबर=कुबेर का एक पुत्र । मोर्छल=मोर के पंखों से बना पङ्खा । उर्वशी और रंभा=स्वर्ग लोक की अप्सराएँ । अभिसार=प्रिय से मिलने के लिए संकेत स्थल पर जाना ।

पृष्ठ २१

शब्दार्थ—पटा घुमाना=तलवारों के दाँवपेंच दिखाना । बामन वीर=बहादुर बौना । वामन के.... की महिमा=एक समय राजा बलि के दान धर्म से इन्द्र अत्यन्त भयभीत हुआ कि कहीं उसका इन्द्र पद न छिन जाय । उसने विष्णु भगवान से प्रार्थना की । विष्णु वामन अंगुल का शरीर धारण कर राजा बलि के पास आए और उससे तीन पैर पृथ्वी का दान माँगा । विष्णुजी ने अपने दो पैरों में स्वर्ग और पृथ्वी नापली तब तीसरे पैर के लिए राजा ने अपना शरीर उपस्थित कर दिया । विष्णु इससे बहुत प्रसन्न

हुए और उन्होंने राजा बलि को पाताल लोक का राजा बना दिया ।

पृष्ठ २२

शब्दार्थ—अचल हेमकूट=हिमालय के उत्तर का एक पर्वत । बर्बर=असभ्य, जङ्गली ।

पृष्ठ २३

शब्दार्थ—अवध्य=जिसका बध न किया जा सके । सम्भाषण=बात चीत । स्त्री सम्प्रदान=स्त्रियों को दान में देना ।

पृष्ठ २४

शब्दार्थ—द्राक्षासव=अंगूर की शराब । विसर्जन=छोड़ना, परित्याग करना ।

पृष्ठ २५

शब्दार्थ—नीतिशास्त्र का बृहस्पति=देव गुरु बृहस्पति की भाँति नीतिज्ञ । शुक्र=दैत्यों के गुरु ।

व्याख्या—ध्रुवस्वामिनी—मैं केवल यह सकते हो ।

शकराज का अपमानजनक संधि प्रस्ताव स्वीकार करते हुए जब रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को शकराज के हाथों सौंपने का निश्चय कर लेता है तो ध्रुवस्वामिनी का पददलित नारीत्व विद्रोह कर उठता है । रोष भरे शब्दों में वह कहती है कि पुरुष जाति ने अब तक नारियों को भी पशुओं की भाँति अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना कर उन पर अत्याचार किया । परन्तु मैं अब यह अत्याचार नहीं सहन कर सकती । इसीलिए यदि तुम शकराज से मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल के गौरव को नहीं बचा सकते, नारी की मर्यादा के महत्त्व को नहीं पहिचान सकते तो मुझे पशुओं की भाँति बेच भी नहीं सकते ।

विशेष—इन पंक्तियों में नारीत्व के आदर्श से अभिभूत और आत्म गौरव से भरे ध्रुवस्वामिनी के आदर्श चरित्र पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है ।

पृष्ठ २६

शब्दार्थ—प्राणों का प्रण लगा सके=प्राणों की बाजी लगा सके । किन्तु सोने की कटार...डुबो नहीं सकता = जिस प्रकार सोने की कटार की सुन्दरता से मुग्ध होकर कोई व्यक्ति उसे अपने हृदय में भौंककर मृत्यु को नहीं

प्राप्त होना चाहेगा, उसी प्रकार किसी भी सुन्दर वस्तु को यदि वह आपत्ति सूचक है कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा । राज्य और सम्पत्ति.....नहीं मिलता=राज्य और सम्पत्ति के रहते हुए बहुत सी रानियाँ और स्त्रियाँ तो प्राप्त की जा सकती है, परन्तु व्यक्ति का गौरव नहीं प्राप्त किया जा सकता । व्यक्ति की मान और प्रतिष्ठा इन सबसे बड़ी वस्तु है । यह नष्ट होने पर पुनः प्राप्त नहीं की जा सकती ।

पृष्ठ २७

शब्दार्थ—मद्यप=शराबी । लालिमा=लाली, सुखी । उष्ण=गर्म ।

ध्रुवस्वामिनी मैं उपहार मैं ही करूँगी ।

व्याख्या—शकराज का अपमान जनक संधि प्रस्ताव स्वीकार करने वाले रामगुप्त की भर्त्सना करती हुई विद्रोहिणी ध्रुवस्वामिनी कहती है कि उपहार में दी जाने वाली शीतल मणियों की भाँति मैं चेतना रहित जड़ वस्तु नहीं हूँ । मुझ में प्राणों का स्पंदन है, अपना भला बुरा जानने की चेतना है । मेरी नसों का रक्त टण्डा नहीं हुआ है, कुछ कर सकने की शक्ति मुझ में शेष है । मेरे हृदय में विद्रोह की आग जल रही है । मेरा आत्म गौरव नष्ट नहीं हुआ है । आत्म सम्मान की ज्योति से वह प्रकाशित है । अपनी रत्ना मैं स्वयं अपने हाथों से करूँगी ।

शब्दार्थ—निर्वसन=वस्त्र रहित, लजा पूर्ण दशा में ।

पृष्ठ २८

शब्दार्थ—विकासो=मुख कुसुम=खिलता हुआ फूल । आत्म विज्ञापन=अपने कार्यों की प्रशंसा करना ।

ध्रुवस्वामिनी यह तीखी छुरी अपना नहीं है ।

व्याख्या—आत्म हत्या के लिए प्रस्तुत ध्रुवस्वामिनी को जब चंद्रगुप्त ऐसा करने से रोकता है, तब ध्रुवस्वामिनी कहती है “मैं आत्म हत्या करूँ अथवा नहीं, इस पर अब मुझे विचार करना होगा । अभी तो मेरा जीवन विकसित होते हुए कुसुम की भाँति है, कोई अभिलाषा मेरे हृदय की पूर्ण नहीं हुई है । उस अपने ऐसे जीवन को इस छुरी से उमी प्रकार नष्ट कर दूँ जैसे कोई विप्रेला कीड़ा अपने डङ्क से किसी फूल को खिलने से पूर्व ही नष्ट

कर देता है, यह बात अब मुझे सोचनी होगी। यदि मैं आत्म हत्या द्वारा अपने जीवन को इस प्रकार नष्ट न करूँ तो क्या मेरे दुर्दशा पूर्ण इस जीवन का दूसरा रूप भी हो सकेगा ? इस आत्महत्या के अतिरिक्त भी जीवन को सुखी बनाने का क्या दूसरा मार्ग है ? क्या मेरे भाग्य में यही लिखा है कि मैं उन अभिमानी व्यक्तियों का अहसान और उपकार मानती रहूँ जिनको यह गर्व है कि उनकी ही कृपा से मेरा जीवन चलता है। क्या इससे मुक्ति का कोई मार्ग नहीं है ? क्या मेरा जीवन भाग्य के संकेतों का खिलवाड़ मात्र बन कर रहेगा। मुझे मेरे जीवन पर भी अधिकार नहीं। क्या मैं अपने जीवन के लिए स्वयं कुछ नहीं कर सकती।

विशेष—यहाँ ध्रुवस्वामिनी जैसा सशक्त और प्राणवान चरित्र भी नियतिवाद से प्रभावित है। नियतिवादी दर्शन की यह अभिव्यक्ति ध्रुवस्वामिनी में ही नहीं प्रसाद जी के अन्य नाटकों में भी प्रमुख पात्रों द्वारा हुई है।

शब्दार्थ—प्रमाद=भूल, भ्रम। आवेश=उत्तेजना। छिन्नमस्ता=एक देवी जिसका मस्तक कटा हुआ होता है।

चन्द्रगुप्त देवि

सुनूँ भी।

व्याख्या—आत्म हत्या को प्रस्तुत ध्रुवस्वामिनी को सम्बोधित करता हुआ चन्द्रगुप्त कहता है कि हे देवी ! तुम्हारा यह जीवन इतना तुच्छ नहीं है कि उसे व्यर्थ में यों ही नष्ट किया जाय। इस जीवन पर केवल तुम्हारा ही अधिकार नहीं है। यह तो विश्व की महान सम्पत्ति है। इसीलिए किसी भ्रम वश या क्षणिक उत्तेजना के कारण अथवा आपत्तियों से घबड़ा कर उसे नष्ट करना किसी भी दशा में उचित नहीं। मुझे भी तो ज्ञात हो कि गुप्त कुल की लक्ष्मी आज आत्म हत्या करने क्यों जा रही हैं ? छिन्नमस्ता का रूप क्यों ले रही हैं ?

शब्दार्थ—शिविका=पालकी। चामर सजित अश्व=चँवरों से सजा हुआ घोड़ा। परिहास=मजाक। अवरोध=रोक।

पृष्ठ २६

शब्दार्थ—अज्ञात भाव=अनजाने रूप में। आलोक=प्रकाश।

चंद्रगुप्त—यह नहीं हो

प्रयत्न किया ।

व्याख्या—ध्रुवस्वामिनी द्वारा यह ज्ञात होने पर कि रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को शक्रराज के हाथों सौंपना चाहते हैं चंद्रगुप्त रोष और क्षोभ से भर उठता है । आवेश भरे स्वरों में वह कहता है “महादेवी ऐसा अनुचित कार्य कभी नहीं हो सकता । जिस राजकुल की मर्यादा का पालन करते हुए मैंने हाथ में आए राज्य को छोड़ दिया, उस राज्यकुल की मर्यादा का यह अपमान मैं सहन नहीं कर सकता । मेरे जीवित रहते हुए सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित गुप्त वंश का गौरव, उसकी मान प्रतिष्ठा इस प्रकार धूल में नहीं मिलाई जा सकती । तुम्हें किसी भी दशा में शक्रराज के हाथों नहीं सौंपा जा सकता । इसके साथ एक और कारण भी है । मेरे अन्धकार से भरे हृदय को अनजाने रूप में ही तुमने अपने मधुर प्रेम के प्रकाश से उसी प्रकार आलोकित कर दिया जैसे प्रभात कालीन सूर्य की प्रथम किरण उदित होकर रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देती है । तुम्हारे प्रेम की बात को भी मैंने इसीलिए भुला देना चाहा कि गुप्त कुल की मर्यादा स्थिर रहे ।

शब्दार्थ—कलुष=पाप । गृह विधान=घर की नियम व्यवस्था । पराकाष्ठा=चरम अवस्था । प्रवंचकों=धूर्तों, ठगों । आवरण=पर्दा, छिपने का साधन । ऐसा विनय करता है=शील रहित विनय तो धूर्तों को अपनी धूर्तता छिपाने का साधन मात्र है । शील तभी होगा जबकि दो व्यक्ति एक दूसरे के सम्मान के अधिकारी हों ।

पृष्ठ ३०

मन्दाकिनी—राजा अपने

नहीं तो सर्वनाश ।

व्याख्या—चंद्रगुप्त और शिखर स्वामी के वार्त्तालाप में शिखर स्वामी के यह कहने पर कि राजा और राष्ट्र की रक्षा होनी ही चाहिए सहसा प्रवेश कर मन्दाकिनी कहती है कि जो राजा अपने राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकता उसके जीवित रहने से क्या लाभ ? राजा के प्राणों को बचाने के लिए राष्ट्र को नष्ट करना कहीं तक उचित है ? राष्ट्र की रक्षा के लिए अमात्य शिखर स्वामी भी मृत्यु दण्ड को स्वीकार करना चाहते हैं, उधर महादेवी भी राष्ट्र के गौरव को स्थिर रखने के लिए आत्म हत्या द्वारा अपने प्राणों की बलि देना चाहती

है, तब फिर राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों का विसर्जन करने में संकोच क्यों ? क्यों नहीं सब लोग शकराज का अपमान जनक संधि प्रस्ताव स्वीकार करने के स्थान पर राष्ट्र के गौरव के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देते । इसीसे ही राष्ट्र को रक्षा हो सकती है, राष्ट्र की मान और मर्यादा बच सकती है, नहीं तो सर्वनाश होने में देर नहीं है ।

शब्दार्थ—दुरभिसंधि=प्रड़यन्त्र ।

पृष्ठ ३१-३२

शब्दार्थ—कलंक=दोष । कालिमा = कालिख । कारागार = बन्दी गृह । मर्म-वाक्य=हृदय को चोट पहुँचाने वाला कथन ।

ध्रुवस्वामिनी—अनार्य निष्ठुर

तत्पर हैं ।

व्याख्या—रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी पर यह दोष लगाने पर कि वह परपुरुष चंद्रगुप्त से प्रेम रखती है, ध्रुवस्वामिनी उसकी भर्त्सना करती हुई कहती है कि अनार्य निष्ठुर तुम चाहे जैसा कलङ्क मेरे जीवन पर लगाओ, हृदय को चोट पहुँचाने वाली कड़ुबी से कड़ुबी बात कहो, पर मैं अब अपने जीवन का अन्त नहीं कर सकती । तुम मुझे अपने मार्ग से नहीं हटा सकते । तुम्हारे हाथों की गई मेरे जीवन की दुर्दशा ने ही मुझे इस मार्ग पर चलने को विवश किया है । चन्द्रगुप्त के प्रति मेरा अनुराग ही मेरे जीवन का अमृत है । इसी अमृत के सहारे मैं उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करूँगी जिसे तुम निर्लज्ज समझते हो ।

शब्दार्थ—अनुभूति पूर्ण=हृदय के मधुर भावों से भरा । नियति=भाग्य । क्षितिज=जहाँ आकाश और पृथ्वी मिले हुए दिखलाई पड़ते हैं । अर्गला=सौँकल । अन्तरंग=हृदय ।

ध्रुवस्वामिनी—कितना

कहला देता है ।

व्याख्या—चंद्रगुप्त के आलिङ्गन की स्मृति में आत्म विभोर ध्रुवस्वामिनी कहती है कि आलिङ्गन के उस क्षण में हृदय कितने मधुर भावों से भर गया था । कितने अधिक आत्मसुख और संतोष का अनुभव हुआ था । पीड़ा के ताप से जलते हुए मेरे हृदय को उम आलिङ्गन ने अपूर्व शीतलता प्रदान की थी । ऐसा प्रतीत होता था जैसे भाग्य के हाथों लू के ताप से झुलसी पृथ्वी

ने क्षितिज के रूप में सायंकाल के शीतल आकाश का मिलन पा लिया हो । मेरा अब तक का जीवन कितना असहाय, विवश और बन्धन से भरा था । मैं जैसे उस प्रदेश की निवासिनी थी जहाँ कभी प्राणों का संचार करने वाली वायु भी नहीं थी । मेरे प्राणों पर भी बन्धन था । वह पूर्णतः दूसरों के अधीन था । मुझे मेरे लिए अपना ही जीवन असहाय बन गया था । परन्तु अब मैं मरना नहीं चाहती । संसार में रह कर कुछ दिन और व्यतीत करूँगी । यही मेरे भाग्य की इच्छा है । कुमार तुमने मेरे ऊपर यह उपकार कर वही कार्य किया, जिससे मैं अपने आपको अब तक बचाना चाहती थी । तुम्हारे स्नेह और उपकार से मेरा हृदय भर उठा है । ओह, इस हृदय में जैसे मालूम होता है दो हृदय हैं । भीतर का मन जब तुम्हारे प्रेम को स्वीकार करता है तब मेरा बाहरी मन, मेरी कर्तव्य बुद्धि ऐसा करने से रोकती है । मेरे हृदय में यह द्वंद कैसा छिड़ा हुआ है ।

विशेष—ऊपर की पंक्तियों में मानसिक अन्तर्द्वन्द का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है । ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की पत्नी है परन्तु वह चन्द्रगुप्त से प्रणय रखती है । ध्रुवस्वामिनी के हृदय का यह द्वंद ही यहाँ दृष्टव्य है ।

शब्दार्थ—निर्वासन=निकालना । गह्वर=गुफा ।

पृष्ठ ३३

शब्दार्थ—प्रलय का परिहास = विनाश की क्रीड़ा । सहचरी = सखी । चिबुक=ठोड़ी । जलधर=समुद्र । संकीर्ण=छोटे । कगारों=नदी के ऊँचे किनारों । पादप = वृक्ष, पेड़ । अथक=न थकने वाला । तम=अन्धकार । क्षत=घाव । तमिस्रा = अंधेरी रात्रि । तांडव नर्तन=प्रलय काल का नर्तन । स्वर सप्तक=संगीत के सात स्वर । भैरव रव=भयङ्कर कोलाहल । निशा=रात्रि । स्वेद धार=पसीने की धार । कपिशा=एक नदी । अचल=पर्वत । क्रन्दन=रुदन, वरुणा की आर्त्त पुकार । ज्वाला=जलन, गर्मी । नीलकण्ठ=शिवजी ।

व्याख्या—पैरों के नीचे

सब खेल चले ।

शक शिविर में प्रस्थान करने वाले सामंत कुमारों का उत्साह वर्द्धन करती हुई मंदाकिनी कहती है कि कठिन पर्वतीय मार्ग पर चलने वाला अश्रांत पथिक सभी प्रकार की कठिनाइयों को सहन करता हुआ आगे ही बढ़ता चलता है ।

भले ही उसके पैरों के नीचे समुद्र लहरा रहा हो, ऊपर बिजलियाँ चमक रही हों। मार्ग के तंग किनारों के नीचे अनेक झरने इधर-उधर बह रहे हों। उस निर्जन स्थान में वायु जैसे विकल होकर बड़ी तीव्र गति से चल रही हो जिसके वेग से वृक्ष नीचे झुक-झुक पड़ रहे हों।

उत्साह से भरा हुआ वह वीर युवक पृथ्वी के निवासियों के लिए एक अपरिचित छाया की भाँति आगे ही बढ़ता रहता है। अन्धकार में वह प्रकाश की तरह इस भाँति चमकता है जैसे वह स्वयं ही प्रकाश की साकार प्रतिमा है। वह अपनी पीड़ा को भुलाता हुआ, कठिनाइयों को नष्ट करता हुआ और कष्टों पर मुस्कराता हुआ ऊपर की ओर बढ़ता ही चला जाता है।

जिस प्रकार अन्धकार से भरी रात्रि में तारे चमकते हों उसी प्रकार उस वीर युवक के शरीर पर लगे हुए घाव फूलों की भाँति खिल रहे हों। उसके पग-पग पर विनाश का तांडव नृत्य मच रहा हो, जिसकी भयंकरता में सातों स्वर विलीन हो रहे हों। चारों ओर भयंकर कोलाहल छा रहा हो। दिशाएँ काँप रही हों और रात्रि भय से विमूढ़ बन गई हो। पसीने की धार नदी की भाँति बह रही हो, फिर भी वह पथिक पर्वत के कठिन मार्ग पर ऊपर को बढ़ता ही चलता है।

पर्वत चलायमान हो जायँ, उनकी शांति भंग हो जाय, उनकी ममताहीन शोभा नष्ट हो जाय, फिर भी वह अश्रुत पथिक व्याकुल होकर करुण-क्रन्दन नहीं करता। अपने हृदय के उत्साह पर विश्वास रखता है। जिस प्रकार शिव जी ने विषपान किया था, उसी प्रकार वह भी अपने दुख की ज्वालाओं का पानकर शिव-रूप धारण करता है। जीवन में विश्राम करना और शांति पाना तो उसने सीखा ही नहीं। ये तो उसके जीवन के लिए अभिशाप स्वरूप हैं। बिना विश्राम लिए वह तो अपने मार्ग पर ऊपर की ओर बढ़ता ही चलता है।



द्वितीय अङ्क

पृष्ठ ३४

शब्दार्थ—मलिनता=मैलापन । मुकुलित=खिलकर ।

पृष्ठ ३५

शब्दार्थ—विग्रह=लड़ाई, संघर्ष । प्रणय=प्रेम । पुंज=ढेर ।

कोमा—प्रणय, प्रेम समझती है ?

व्याख्या—प्रेम और भावुकता की मूर्ति कोमा कहती है, जैसे सामने से कोई हमारी आँखों में प्रकाश डाले तो हमारी आँखें चकाचौंध से भर उठती हैं । उस प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु हमें दृष्टिगोचर नहीं होती । उसी प्रकार प्रेम के प्रकाश की तीव्र किरणें जब हमारे नेत्रों में पड़ती हैं तब हमें प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं दिखलाई पड़ती । प्रेम केवल प्रेम, बस यही हमारे जीवन का सर्वस्व बन जाता है । जिस प्रकार वर्ष में ऋतुएँ आती हैं उसी प्रकार जीवन में भी प्रेम करने का अवसर आता है । भले ही प्रेम करना पागलपन हो, भूल हो । प्रेम करने के पश्चात् दुख ही उठाना पड़े । प्रेम में असफल होना अथवा प्रेम के मार्ग में सँभल-सँभल कर कदम रखना, दोनों ही बातें समान हैं । क्योंकि व्यावहारिक बुद्धि रखने वाले संसार के जो चतुर लोग हैं वे इन दोनों ही प्रकार के प्रेम करने वालों को मूर्ख समझते हैं । तब अपने को ही सम्बन्धित करती हुई कोमा कहती है कि तू ही बता प्रेम करना और प्रेम न करना इन दोनों बातों में से कौन-सी बात उचित है ।

शब्दार्थ—मद=मादकता ।

यौवन तेरी

कहाँ से आया ।

व्याख्या—यौवन और प्रेम की आकुल तरंगों से भरा हुआ हृदय लिए कोमा गाती है “हे यौवन ! सचमुच तेरा समय बड़ा चंचल है । ऐसा मन

करता है कि मेरे जीवन में प्रेम रस से भरे जिन मधुर क्षणों को तुम लाए हो उनका उपभोग करूँ। हे छली ! न जाने कब तूने मेरे हृदय रूपी प्यालों में मादकता भर दी। मेरी जीवन रूपी वंशी को तूने नए स्वरों से भर दिया। क्षण भर के लिए ही रुकने वाले हे यौवन रूपी पथिक बता तो सही तू मेरे जीवन में कहाँ से आया है ?

पृष्ठ ३६

शब्दार्थ—अन्यमनस्क=उदासीन । प्राथमिक=प्रारम्भिक ।

कोमा—प्रश्न स्वयं

महाराज ।

व्याख्या—शकराज के यह कहने पर कि मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है, कोमा कहती है “किसी के लिए प्रश्न अपने आप उत्पन्न नहीं होते। मनुष्य स्वयं ही अपने जीवन के लिए उन्हें उपयोगी समझकर उत्पन्न करता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जीवन को आधार देने के लिए अपने चारों ओर जाल बुनती है उसी प्रकार मनुष्य भी जीवन को संघर्षमय बनाता है, दुश्चिन्ताओं और दुर्भावनाओं का जाल अपने चारों ओर बुनता है। परन्तु मनुष्य के जीवन को सौभाग्य और मंगल से पूर्ण बनाने वाला तो यौवन-जनित जीवन का प्राथमिक उल्लास और आनन्द ही है। यही जीवन का सच्चा सुख है। व्यर्थ के संघर्षों में पड़कर इससे उदासीन होना उचित नहीं।

शकराज—सौभाग्य और

लाता है।

व्याख्या—भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ को महत्त्व प्रदान करता हुआ शकराज कहता है कि मानव-जीवन को सुखी और दुखी बनाने में अच्छे भाग्य और बुरे भाग्य का कोई हाथ नहीं रहता। यह तो मनुष्य की दुर्बलता है, जिससे भय से वह सौभाग्य और दुर्भाग्य की कामना किया करता है। पुरुषार्थ ही सब कुछ है। वही भाग्य का बनाने वाला है। मनुष्य का पुरुषार्थ ही उससे सौभाग्य का विधाता है।

पृष्ठ ३७

शब्दार्थ—अभावमयी=साधन रहित । लघुता = छोटापन । अभिनय = नाटक ।

कोमा—अभावमयी लघुता

नहीं है ।

व्याख्या—शकराज के अहं पर कड़ी चोट करती हुई कोमा कहती है कि तुम अपने को बहुत बड़ा समझ बैठे हो । पर वास्तव में तुम बहुत छोटे हो । बड़े होने के कोई साधन भी तुम्हारे साथ नहीं हैं । ऐसी दशा में भी अपने को बड़ा प्रदर्शित करना तुम्हारे लिए उचित नहीं ।

शब्दार्थ—पाषाणी प्रतिमा=पत्थर की मूर्ति । मधुर स्रोत=मधुरता से भरी धाराएँ । मदिरा=शराब ।

कोमा—पाषाणी हों

बहती है ।

व्याख्या—शकराज द्वारा अपने को पाषाणी शब्द से सम्बोधित करने पर कोमा कहती है “राजन् ! तुमने मुझे पत्थर की प्रतिमा कहा है परन्तु जिस प्रकार इन्हीं पाषाणों के भीतर से मधुर जल से पूर्ण भरनों की धारा फूटती है, उसी प्रकार मेरे जिस हृदय को तुमने पाषाण समझा है उसमें प्रेम की शीतल जल धारा है, उसमें शराब का सा उन्मादकारी उफान नहीं ।”

पृष्ठ ३८-३९

शब्दार्थ --प्रतिशोध=बदला । प्रतिहिंसा=शत्रुता का बदला लेना । अस्ता चल=वह पर्वत जिसके पीछे सूर्य का छिप जाना कहा जाता है । अलक=बाल । सुमनों=फूलों । सौरभ=सुगन्ध । मकरन्द=पराग । अधरों से=होठों से ।

अस्ताचल पर

बाधा डाली है ।

व्याख्या— शक्र दुर्ग में विजयोत्सव के अवसर पर नृत्य करती हुई नर्तकियाँ गाती हैं—अस्त होते हुए सूर्य की लालिमा के साथ संध्या का अंधकार ऐसा फैल रहा है मानो संध्या नारी ने अपने काले धुँधराले वेश चारों ओर बिखेर दिए हैं । संध्या के अन्धकार के बीच सूर्य की लालिमा ऐसी प्रतीत होती है मानो नीलम के प्याले में मदिरा की लाल धारा बहने लगी है । भीलों में पड़ता हुआ तारों का प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत होता है मानो पहाड़ों ने अपने भीलों की प्यालियों को रत्नों से भर लिया हो । वृक्षों की शाखाएँ जैसे अपने से लिपटी हुई लताओं को चूमने के लिए नीचे झुक रही हों । प्रियतम से रूटी हुई नारियाँ का जो कोमल हृदय प्रेम के रोष से भरा हुआ

था उसकी कठोरता अब कोमलता में बदल रही है। वे बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने प्रियजनों पर प्रेम लुटा रही हैं। कुञ्जों के झुरमुट से पत्तियों के प्यारे जोड़े निकल रहे हैं। मानो वे इस मधुर अन्धकार में अपने मानस की खाली प्याली को प्रेम से भरने निकले हैं। मदिरा से प्यालियाँ भर उठी हैं। फूलों का सुगन्धित पराग उसमें मिला हुआ है। स्त्रियाँ उन्हें अपने प्रेम भरे होठों से लगा रही हैं। पृथ्वी रूपी नायिका प्रेम से उन्मत्त बन गई है। उधर आकाश भी पृथ्वी को देखकर नीचे की ओर झुक रहा है। सब अपने-अपने सुख में मग्न होकर भूम रहे हैं। फिर तू क्यों अपने सुख में बाधा डाल रही है।

पृष्ठ ४०-४१

शब्दार्थ—दुर्गतोरण = दुर्ग का बाहरी फाटक। शिविका = पालकी। अनुभूतिमयी = भावों से भरी। स्नेह-सूचनाओं = प्रेम की बातों। मधुर आलाप = मीठे स्वर। नीरव शून्य = पूर्ण शांत।

कोमा—राजा, तुम्हारी

भूल थी।

व्याख्या—शकराज के प्रति अपने प्रणयभाव को प्रगट करती हुई कोमा कहती है—हे राजा ! जिस दिन तुमने मेरे नीरस और शांत मन को अपने प्रेम की मधुर मुसकान और मीठी बातों के आनन्द से भर दिया था, मुझे अपने प्रेम का परिचय दिया था, उसी दिन मानो जैसे मेरे मन में संगीत के मधुर स्वर छिड़ उठे थे, मेरे जीवन में बसंत की मधुरता छा गई थी और मेरा हृदय प्रेम के पराग से भर उठा था। उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गई। तुम्हारे प्रेम ने मुझे भाव-विह्वल बना दिया। तो क्या तुम्हारे प्रति मेरा वह प्रेम भ्रम था ? कह दो न प्रेम का वह सब कुछ रूप मेरी भूलमात्र थी। तुम मुझसे वास्तव में प्रेम नहीं करते थे।

शब्दार्थ—विच्छिन्न = अलग। अनर्थ = बुरा कार्य। प्रतिशोध = बदला।

पृष्ठ ४२

शब्दार्थ—गूढ़ = रहस्य भरी। दर्प दलन = घमंड चूर करने के लिए। भावी पत्नी = भविष्य में होने वाली पत्नी। प्रमत्त = मतवाले। प्रतिपालिता = पालन की हुई। स्त्रियों का स्नेह.....सोच लो = स्त्रियों के प्रेम को तोड़ डालना कोमल सूत के तोड़ डालने से भी अधिक सरल है, परन्तु उसका

परिणाम अत्यन्त भयङ्कर होता है ।

पृष्ठ ४३

शब्दार्थ—विश्व मानव=सम्पूर्ण संसार । छलनाओं=धूर्त्ता भरी बातों ।

मिहिरदेव—राजनीति

निवास है ।

व्याख्या—शकराज की राजनीति की भर्त्सना करते हुए मिहिरदेव कहते हैं कि राजनीति ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी वस्तु नहीं है । इसीलिए राजनीति के बदले नीति को मत गँवाओ । राजनीति का सम्बन्ध तो केवल तुम तक ही सीमित है परन्तु नीति का सम्बन्ध तो सम्पूर्ण संसार से है । राजनीति की तुच्छ धूर्त्ता से तुम सफलता प्राप्त करके अपने को चतुर समझ सकते हो, परन्तु यह तुम्हारी भूल है । यह चतुरता नहीं मूर्खता है । राजनीति की साधारण सफलता के पोछे एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना सबसे बड़ी हानि है, क्योंकि इस भोषण संसार में सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है परन्तु एक सच्चा प्रेम करने वाला हृदय प्राप्त करना बड़ा कठिन है । शकराज ! दो प्यार करने वालों का हृदय प्रेम के स्वर्गीय प्रकाश से भरा हुआ होता है । उनका जीवन स्वर्गीय और दिव्य होता है ।

शब्दार्थ—प्रस्तुत हो जा=तैयार हो जा । प्रतारणा = ठगना । बहिरंग= बाहरी रूप ।

मिहिरदेव—बेटी हृदय

तोड़ डाल ।

व्याख्या—शकराज के प्रेम सूत्र में बद्ध कोमा से शकराज का साथ त्यागने का उद्बोधन देते हुए मिहिरदेव कहते हैं पुत्री अपने हृदय को सँभाल । शकराज के प्रेम बन्धन को तोड़ते हुए तुम्हें दुख तो होगा परन्तु इस पीड़ा को सहने के लिए तैयार हो जा । मैं जानता हूँ तेरे लिए यह कार्य सहज नहीं है, क्योंकि जो वस्तु हमारे हृदय को ठगने वाली होती है उसमें बड़ा आकर्षण होता है, इसीलिए हम उसे त्याग नहीं पाते । उसे छोड़ने को हृदय नहीं चाहता । वास्तव में छल का बाहरी रूप बड़ा सुन्दर होता है । हमारे हृदय को भ्रम में डाल सके इसीलिए उसका स्वरूप विनय से भरा बड़ा आकर्षक होता है, परन्तु अन्त में वह जीवन के लिए बड़ा दुखदायी और हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाला होता है । इसीलिए हे बेटी, प्रेम के इस बन्धन को तोड़ डाल ।

शब्दार्थ—छिन्न होकर=टूट कर ।

कोमा (सकरुण) तोड़ डालू

आज्ञा न दो ।

व्याख्या—पितृ तुल्य मिहिरदेव जब कोमा से शकराज का प्रेम बन्धन तोड़ डालने के लिए कहते हैं तब कोमा बड़े ही करुण स्वर में उत्तर देती है “पिताजी मैंने जिस प्रेमलता को अपनी आँखों के आँसुओं से सींचा, वही लता मेरी असावधानी से मेरे लिए बंधन बन गई है । प्रेम में अंधी होकर मैंने शकराज को अपना बनाया और यही प्रेम अब पैरों में उलभी हुई लता के समान मुझे आगे बढ़ने से रोक रहा है । क्या इस प्रेमलता को तोड़ डालूँ जिससे उसके साथ जुड़ी हुई मधुर भावों की हरी भरी पत्तियाँ कुचल जाएँ और वह प्रेमलता टूटकर धूल में नष्ट हो जाय । नहीं पिताजी शकराज के प्रति इस प्रणय बन्धन को तोड़ने की आज्ञा न दो ।

शब्दार्थ—दाखों=किशमिशों ।

पृष्ठ ४४

शब्दार्थ—लोहित=लाल । धूमकेतु=अमंगल का सूचक पुच्छल तारा ।
अभिशाप=शाप ।

कोमा-जाना ही

ठीक है ।

व्याख्या—मिहिरदेव द्वारा शकदुर्ग पर आई भावी अमङ्गल की सूचना देने पर कोमा भी उनके साथ चलने को प्रस्तुत होती है । उसके प्रेम पर उसका विवेक विजय प्राप्त करता है । कोमा कहती है कि शकदुर्ग से चले जाना ही उचित है । तब फिर अधिक सोच विचार करने की आवश्यकता ही क्या है । अमङ्गलकारी घटनाएं इस दुर्ग को भय से कंपित बनाएँगीं । यहाँ के सारे सुख स्वप्न नष्ट हो जायेंगे । यही नहीं यदि मैं यहाँ रहूँगी तो वे (शकराज) अपने वास्तविक स्वरूप को छिपायेंगे । अपने रहस्य को छिपाने के लिए मुझसे बनावटी व्यवहार करेंगे । मेरा हृदय प्रत्येक क्षण होने वाले इस प्रकार के अपमान को सहन नहीं कर सकेगा । तब यहाँ से चलना ही मेरे लिए उचित है ।

शब्दार्थ—उच्छृङ्खल=निर्द्वन्द्व । पर्यटक=घूमने वाला ।

पृष्ठ ४५

शब्दार्थ—दर्प से दीप्त=गौरव के प्रकाश से पूर्ण । महश्चमयी=महत्ता से भरी । कलुष=पाप । तेज=प्रकाश ।

कोमा (खिन्न होकर) प्रेम का

भयभीत हो ।

व्याख्या—शकराज द्वारा कोमा से यह कहने पर कि मेरा स्नेह क्या तुम भुला दोगी, कोमा उत्तर में कहती है, मुझसे अपने प्रेम की बात मत करो । मैंने इस प्रेम के बन्धन को तोड़ दिया है । वह तो हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाली एक वस्तु थी जो छूट गई । उसकी दुख भरी स्मृति भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी । शकराज मैं तुमसे प्रेम नहीं करती थी । मैं तो गौरव के प्रकाश से पूर्ण महत्ता से भरी तुम्हारे पुरुष व्यक्तित्व की प्रेमिका थी जो इस पृथ्वी पर अपने पैरों पर खड़ा होने का साहस रखता है । जिसे किसी अन्य सहारे की आवश्यकता न हो । परन्तु तुम तो आज धूमकेतु को देखकर भावी अमङ्गल की आशङ्का से भयभीत और दुर्बल होकर काँप रहे हो । तुम में साहस और दृढ़ता के तेज की अग्नि नहीं जो अपने ऊपर आए हुए सारे अमङ्गल को नष्ट कर सकता है । जिसका आकाश के ये धूमकेतु आदि नक्षत्र भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते । तुम तो इस तेज से रहित स्वार्थ से मलिन पाप की मूर्ति हो । ऐसे व्यक्ति से मेरा कोई परिचय नहीं और न मैं उससे प्रेम ही करती हूँ ।

पृष्ठ ४६

शब्दार्थ—स्वर्ण खचित=सोने के तारों से जड़ा हुआ । उत्तरीय=दुपट्टा । जीवन निशीथ=जीवन रूपी रात्रि । ध्रुव नक्षत्र=सदैव अटल रहने वाला ध्रुव-तारा । मेरे जीवन रहा है = जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में ध्रुवतारा सदैव स्थिर रहने वाले उज्ज्वल प्रकाश के साथ चमकता है उसी प्रकार तुम भी मेरे जीवन के अन्धकार में ध्रुव नक्षत्र की भाँति प्रकाश बन कर चमक उठी हो । महान उत्सर्ग=महान बलिदान । निश्छल = छल रहित । मर्माहत=हृदय को आहत करने वाली । तीव्र आलोक=तीव्र प्रकाश ।

पृष्ठ ४७-४८

शब्दार्थ—प्रवंचक=धोकेबाज । रक्ताक्त कलेवर=खून से लथपथ शरीर । समवेत=मिला हुआ ।

तृतीय अंक

पृष्ठ ४६

शब्दार्थ—प्रकोष्ठ=कमरा । पादपीठ=पीड़ा ।

पृष्ठ ५०

शब्दार्थ—इन्द्रजाल=माया जाल । स्वस्त्ययन=एक धार्मिक कृत्य जो एक विशिष्ट कार्य के पूरा होने पर किया जाता है ।

पृष्ठ ५१-५२

शब्दार्थ—सम्भाषण=बातचीत । संदिग्ध चित्त=सन्देह से भरा हृदय । निर्वासित किया=ठुकरा दिया, अपने यहाँ से निकाल दिया । बलि पशु=बलि वेदी पर चढ़ाए जाने वाले पशु । अकरण आज्ञा=निष्ठुर और क्रूर आदेश ।

ध्रुवस्वामिनी—भाभी कहने

कहना चाहती हो ?

व्याख्या—मंदाकिनी को सम्बोधित करती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है कि यदि तुम्हें भाभी कहने का बहुत अधिक चाव है तो भले ही मुझे भाभी कह लो, परन्तु मुझे तो आज तक किसी की पत्नी होने का गौरव ही प्राप्त नहीं हुआ । इन पुरोहितजी ने ही मुझे कुछ मंत्र पढ़कर रामगुप्त की सहधर्मिणी बनाया था, परन्तु उस राजा ने कभी पति के रूप में मेरे साथ वार्त्तालाप नहीं किया । न जाने मुझसे क्या अपराध बन पड़ा कि मुझ पर सन्देह कर उन्होंने अपने यहाँ से मुझे ठुकरा कर निकाल दिया । मैंने उनसे अपने स्त्री होने का अधिकार माँगा, वह भी मुझे प्रदान नहीं किया गया । बलिवेदी की भेंट किए जाने वाले पशु की भौंति मुझे भी अपने क्रूर आदेश की डोरी से बाँधकर शकदुर्ग में भेज दिया गया । फिर भी मंदाकिनी तुम मुझे भाभी कह रही हो ?

शब्दार्थ—गर्हित=दूषित । वेदान्त=वेदान्त दर्शन के अनुसार सारा संसार मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है । कर्मकाण्ड=यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाएँ । रक्षणीया स्त्री=जिसकी रक्षा की जानी चाहिए । उपहास=मजाक । पैशाचिक=राक्षसी, अत्यन्त भयङ्कर । राक्षस विवाह=हिन्दू धर्म के अनुसार आठ प्रकार

के विवाहों में से एक प्रकार का विवाह, जिसमें कन्या को युद्ध में जीतकर उससे विवाह किया जाता है ।

ध्रुवस्वामिनी—इतना बड़ा

शान्ति देगा ।

व्याख्या—धर्माधिकारी पुरोहित को सम्बोधित करती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है, मेरे नारी जीवन के प्रति इतना बड़ा मजाक किया गया । पति की आज्ञा का पालन करने के लिए धर्म के नाम पर मुझे शकदुर्ग में जाने के लिए विवश किया गया । रामगुप्त से मेरा जो राजस विवाह कराया गया उसका परिणाम आज कितना भयंकर है । उसी के कारण यह जन-संहार हुआ । अभी उस कर्म के रक्त से सनी शकराज की लाश पड़ी हुई है । कितने ही सैनिक मृत्यु के शिकंजे में जकड़े हुए तड़फ रहे होंगे । इसी रक्तधारा के बीच में राजसी के समान मैं खड़ी हुई हूँ । सभी कुछ जैसे मुझे लेकर हुआ है । फिर भी क्या आपका यह स्वस्त्ययन मेरे हृदय को शांति प्रदान कर सकेगा ।

शब्दार्थ—नियामक=नियम बनाने वाले । प्रतिकार=उत्तर । अवलम्ब=सहारा ।

मंदाकिनी—आर्य ! आप

ले लेते हैं ।

व्याख्या—नारी जाति के अधिकारों की माँग करती हुई मंदाकिनी धर्माधिकारी पुरोहित से कहती है, आर्य आप उत्तर क्यों नहीं देते ? आप तो धर्म की व्यवस्था करने वाले हैं । विवाह के धर्म बंधन द्वारा आप स्त्री को बिना उसकी सम्मति जाने पुरुष के हाथों सौप देते हैं । स्त्री को उसके समस्त अधिकारों से वंचित कर उसे पूर्णतः पुरुष जाति के अधीन बना देते हैं, तब क्या आपके धर्मशस्त्र में नारी जाति के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, जो पुरुष जाति के अत्याचारों से उसे संरक्षण दे सके ! जिससे वे पीड़ित स्त्रियाँ आपत्तिकाल में अन्य कोई अवलम्ब पा सकें । विवाह बंधन के पश्चात् नारी और पुरुष परस्पर सहयोग से सुखी रह सकेंगे, यही झूठी कल्पना कर के क्या आप अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं ।

नहीं स्त्री और

खेल है ।

व्याख्या—विवाह के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता हुआ पुरोहित कहता है कि विवाह अभी माना जायगा जब कि नारी और पुरुष एक दूसरे

पर विश्वास रखें। एक दूसरे के अधिकारों की रक्षा में तत्पर हों, तथा एक दूसरे को अपना सहयोग प्रदान करते हुए जीवन बिताएँ। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर विवाह विवाह न होकर विनोद मात्र है। वह धर्मानुकूल नहीं है।

शब्दार्थ—क्लीव=नपुंसक। परित्यक्ता=त्यागी हुई।

पृष्ठ ५३

शब्दार्थ—निष्पीडन=पीड़ा का बहुत अधिक भार। शाश्वत=कभी न नष्ट होने वाला। प्रेम की दीपावली=प्रेम का त्योहार।

कोमा-रानी तुम

रखता है।

व्याख्या—शकराज के प्रति अपने अनन्य प्रेम का परिचय देते हुए कोमा ध्रुवस्वामिनी से कहती है, रानी तुम भी स्त्री हो, इसलिए स्त्री के हृदय की पीड़ा को भली भाँति समझ सकती हो। आज विजयनी का रूप धारण कर तुम नारी के शाश्वत स्वरूप को भले ही भूल जाओ, नारी जीवन में प्रेम का क्या मूल्य है, इसे न पहिचानो परन्तु सब के हृदय में प्रेम की यह दीपावली जलती अवश्य है। तुम्हारे जीवन में भी प्रेम का यह उत्सव अवश्य आया होगा, तुमने भी किसी से अवश्य प्रेम किया होगा। यह प्रेमपूर्ण हृदय ही दूसरे के हृदय की प्रणय कथा को जान सकता है। प्रेम ही उसे उदार बनाता है और अपने प्रेमी के लिए अपना सब कुछ दान करने का उत्साह रखता है।

विशेष—ये पंक्तियाँ प्रणय की मूर्ति कोमा के आदर्श चरित्र की प्रतीक हैं। शकराज का साथ छोड़ने पर भी कोमा उसके प्रति अपने प्रणय बंधन को नहीं तोड़ पाती और इसीलिए शत्रु के दुर्ग में भी वह अपने प्रिय का शव लेने पहुँचती है।

मंदाकिनी-स्त्रियों के

करता है।

व्याख्या—मंदाकिनी कहती है कि पुरुषों के प्रति स्त्रियों के प्रेम और बलिदान की कोई कीमत नहीं। सचमुच नारी जाति की दशा कितनी शोचनीय है। अपने निर्बल और असहाय हाथों से अपने जीवन का सहारा ढूँढ़ती हुई वे पुरुषों के चरण पकड़ती हैं, उनके चरणों की दासी बन उनकी सेवा

करती हैं, और इसके बदले में उन्हें सदैव ही तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा का पुरस्कार मिलता है। इसे भी पुरुष जाति नारी जाति पर अपना उपकार समझती है।

पृष्ठ ५४

शब्दार्थ—चेतना=ज्ञान । निर्दिष्ट पथ=नियत किया गया मार्ग ।

ध्रुवस्वामिनी— भूल है भ्रम है कर रही हूँ ।

व्याख्या—नारी जाति की शोचनीय सामाजिक अवस्था के विषय में कही गई मंदाकिनी की बात का समर्थन करती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है कि सचमुच नारी जाति की यह भूल है कि वह पुरुष जाति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उससे प्रेम करती है। ध्रुवस्वामिनी की दृष्टि में इसका कारण है कि नारी जाति के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में, उसकी आत्म चेतना के प्रत्येक अंश में न जाने कितने लम्बे समय से पुरुष जाति की पराधीनता की परम्परा घुस गई है। पुरुष जाति के अत्याचार सहते हुए उसकी अधीनता में रहना ही नारी का जीवन बन गया है। इससे आगे वह अपने लिए कुछ सोच ही नहीं सकती। सब कुछ सहकर भी उन्हें पुरुष जाति के अधीन रहने की भूल करनी पड़ती है, क्योंकि इसके अतिरिक्त उनके लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। मेरी भी तो वह भूल थी जब शकराज के हाथों में सौंप देने के लिए मुझे निर्वासित किया गया और मैं अपनी आत्म मर्यादा के लिए अपने पति कहे जाने वाले सम्राट रामगुप्त के चरणों पर गिरी थी। परन्तु क्या मुझे उसके द्वारा रक्षण मिल सका। नहीं, उसने मुझे ठुकरा दिया। पुरुष जाति को मिले हुए अधिकारों के बल पर उसने मुझे अपनी आज्ञा मानने पर विवश किया परन्तु उसका वही कार्य अन्त में मुझे उस मार्ग पर ले आया जो मेरे लिए उचित था। अब मैं रामगुप्त की पत्नी होना स्वीकार नहीं कर सकती। मंदाकिनी को सम्बोधित करती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है कि दुर्ग की विजय मेरी सफलता है अथवा दुर्भाग्य, इसे मैं नहीं समझ सकी हूँ। राजा को मैं अपने सामने भी नहीं देखना चाहती। रामगुप्त के प्रति जैसे एक साकार घृणा पृथ्वीतल से निकलकर मेरे हृदय में समा गई है। क्या ऐसा करना सचमुच पाप है ?

विशेष—यहाँ ध्रुवस्वामिनी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व पर नाटककार ने बड़ा

सुन्दर प्रकाश डाला है ।

शब्दार्थ—मध्य बिन्दु = बीच का केन्द्र । प्रवर्तन चक्र=कार्य को प्रारम्भ करने वाला घेरा ।

मंदाकिनी—नारी हृदय

रोक रहा है ।

व्याख्या—ध्रुवस्वामिनी के मानसिक अन्तर्द्वन्द को लक्ष्य कर मंदाकिनी कहती है कि ध्रुवस्वामिनी का नारी-हृदय चन्द्रगुप्त से प्रेम करता है । वह उसकी ही पत्नी बनना चाहती है, परन्तु धर्मशास्त्र की व्यवस्था उसे ऐसा करने से रोक रही है । वास्तव में धर्म शास्त्र का विधान ध्रुवस्वामिनी की जीवनगति में बाधक बन रहा है । वह जैसे अपने उचित स्थान से हटकर कील की तरह ध्रुवस्वामिनी के नारी हृदय में गढ़ गया है और उसे चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम प्रगट करने से रोक रहा है । शास्त्रों की नियम व्यवस्था वस्तुतः हृदय के उस मध्य बिन्दु की भोंति है जिस पर हृदय का वृत्त सहज गति से घूम सके पर ध्रुवस्वामिनी के लिए शास्त्र के ये ही नियम अपने मध्य बिन्दु से हटकर उसके हृदय वृत्त को सहज गति से अपना कार्य नहीं करने दे रहे ।

पृष्ठ ५५

शब्दार्थ—विधान=नियमों की व्यवस्था । गहन अन्तस्तल=हृदय का भीतरी भाग । मूक स्वीकृति=चुपचाप स्वीकार की गई । वादता=वह कन्या जिसके विवाह की बात किसी से निश्चित हो चुकी हो । प्रवचना=शोका । विडंबना=मजाक ।

चन्द्रगुप्त—विधान की स्याही

छिपा सकेगी ।

व्याख्या—मनुष्य जीवन के लिए बनाए गए नियमों की व्यवस्था भी मनुष्य के भाग्य को अन्धकारमय बना देती है । यह व्यवस्था उस स्याही की बूँद के समान है जो भाग्य की लिपि पर कालिमा चढ़ा देती है । इसी विधान के कारण ध्रुवस्वामिनी को अपना कहने में भी मुझे सकोच हो रहा है । परन्तु वह निश्चय ही मेरी है । मैंने प्रारम्भ से ही केवल उसे प्यार किया है । उसके अतिरिक्त किसी अन्य से मैंने प्रेम नहीं किया । जिस बात को मैं अपने आंतरिक हृदय में चुपचाप स्वीकार कर चुका था कि वह मेरी पत्नी है, आज उसी को मैं खुल कर प्रगट कर रहा हूँ । क्या मैं सचमुच पुरुष हूँ ? यदि ऐसा है

तो फिर मैं क्यों अपनी ही आँखों के सामने अपना वैभव और अधिकार अन्याय पूर्वक दूसरों के हाथों छिनते हुए देख रहा हूँ ? मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही द्वारा उत्साह प्रगट न करने के कारण दूसरे की पत्नी बन गई । नहीं मेरा यह शील भाव मेरे ही साथ धोका और छल है । इस शील और विनय के कारण मैं अपने वास्तविक स्वरूप को भी प्रगट नहीं कर सका । यह मेरे जीवन के प्रति कैसा उपहास है ? विनय का बहाना करता हुआ मैं कब तक कायर बना रहूँगा ।

पृष्ठ ५६

शब्दार्थ—नत मस्तक=मस्तक झुका कर । परित्यक्ता = त्यागी हुई । हत भागिनी=भाग्य से सताई हुई । क्षोभ = दुःख । पाखण्डी=धूर्त । क्षीव = मत्त । क्लीव=नपुंसक । निमज्जित=डुबोने वाले ।

पृष्ठ ५७

शब्दार्थ—दुर्विनीत=विनय पूर्वक बातें न करने वाली । पामर = नीच । घृष्टता=अनुचित साहस । प्रतिवाद=विरोध । साधु=भले । दुर्देव=खोटा भाग्य । क्रीतदासी=खरीदी गई दासी । प्रपच=ढोंग, छल ।

पृष्ठ ५८

शब्दार्थ—दस्यु=अनार्य । काल सर्पिणी=काल रूपी सर्पिणी के समान भयङ्कर ।

पृष्ठ ५९

शब्दार्थ—प्रहसन=नाटक । आधिपत्य=अधीनता ।

पृष्ठ ६०

शब्दार्थ—अभियुक्त=अपराधी । रोग-जर्जर=रोग से अत्यन्त दुर्बल और क्षीणकाय । अलंकारों=आभूषणों । अपहरण=छीनना ।

चन्द्रगुप्त=अमात्य

नहीं बढ़ाता ।

व्याख्या—अमात्य शिखर स्वामी द्वारा गुप्तकुल के गौरव की दुहाई देने पर चन्द्रगुप्त कहता है कि जिस गौरव की बात तुम कह रहे हो क्या वही गुप्त कुल का गौरव है ? गुप्त कुल का गौरव अब रहा कहौं ? यह गौरव तो उसी प्रकार का है जैसे किसी रोग से दुर्बल और क्षीण बने शरीर को अलङ्कारों से

सजाया जाय, मलिनता और कलुषता के मैले ढेर पर कुंकुम और केसर का लेप चढ़ाया जाय । परन्तु इससे क्या रोगी के जर्जर शरीर को शोभावान बनाया जा सकता है, मलिनता और कलुष को छिपाया जा सकता है ? उसी प्रकार गुप्त कुल का गौरव जो रामगुप्त की कापुरुषता से नष्ट हो चुका है पुनः भाई भाई के प्रेम की दुहाई का झूठा आवरण डालकर उसे बचाया नहीं जा सकता ।

शब्दार्थ—उन्मत्त प्रलाप=पागल पन की बातें ।

पृष्ठ ६१-६२

शब्दार्थ—दस्यु वृत्ति=लुटेरा पन । राजकिल्बिष = राजकीय अपराध । भ्रांतिपूर्ण बन्धन=भ्रम से उत्पन्न बन्धन । पद दलित = पैरों से कुचलना । प्रमाणों=आधारों । प्रव्रजित=सन्यासी ।

पुरोहित—विवाह की विधि

अधिकार नहीं ।

व्याख्या—रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के वैवाहिक बन्धन की यथार्थता को प्रगट करते हुए पुरोहित कहता है कि रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का विवाह वास्तविक नहीं है । यह तो एक ऐसा बन्धन है जो भूल से हो गया है । इस बन्धन को विवाह मानना धर्म के उद्देश्य को नष्ट करना है । यद्यपि जो विवाह माता और पिता की इच्छा से हो उसका बन्धन पति और पत्नी के पारस्परिक कलह से नहीं टूट सकता, परन्तु रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का विवाह इस प्रकार के आधार से भी रहित है । क्योंकि यह विवाह माता-पिता की उपस्थिति के बिना हुआ है । इसके अतिरिक्त भी अन्य ऐसे आधार हैं जिनके कारण रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं । यद्यपि रामगुप्त मृत और सन्यासी तो नहीं है परन्तु वह अपने पुरुषोचित गौरव से नष्ट, आचरण हीन नपुंसक और राज्य अपराधी है ।

शब्दार्थ—अङ्गगामिनी=भोग्या स्त्री । मोक्ष=तलाक ।

पृष्ठ ६३

शब्दार्थ—विपन्न=आपत्ति में पड़ा हुआ ।

संभावित प्रश्न

- १—ध्रुवस्वामिनी के आधार पर सिद्ध कीजिए कि प्रसादजी को पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों के चित्रण में अधिक सफलता प्राप्त हुई है।
- २—‘प्रसाद जी नाटककार होने से पहिले कवि हैं’ इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? ध्रुवस्वामिनी को दृष्टि में रखते हुए युक्त पूर्वक अपना मत स्थिर कीजिए।
- ३—ध्रुवस्वामिनी नाटक के आधार पर प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
- ४—रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के चरित्र की तुलना कीजिए।
- ५—ध्रुवस्वामिनी की नाटकीय भाषा शैली का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।
- ६—नाट्य-कला की दृष्टि से ‘ध्रुवस्वामिनी’ कहाँ तक सफल रचना कही जा सकता है ? तर्क संगत उत्तर दीजिए।
- ७—अभिनयात्मकता की दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी नाटक के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।
- ८—ध्रुवस्वामिनी नाटक में तत्कालीन इतिहास और सामाजिक परिस्थितियों को वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के साँचे में ढालने का प्रयास किया गया है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।
- ९—प्रसादजी की नाट्य-कला की कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं, ध्रुवस्वामिनी नाटक से उदाहरण देकर बतलाइए।
- १०—ध्रुवस्वामिनी नाटक में कौन-सा चरित्र आपको सबसे अधिक प्रभावित करता है ? अपनी रुचि का कारण बतलाते हुए उसके चरित्र का विशद चित्रण कीजिए।
- ११—‘ध्रुवस्वामिनी में नारी भावना’ इस पर एक सुगठित परन्तु संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

- १२—‘प्रसाद’ के नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य रचना-पद्धतियों समन्वय दिखाई पड़ता है।’ इस कथन की सार्थकता का ध्रुवस्वामी नाटक के आधार पर विवेचन कीजिए।
- १३—‘ध्रुवस्वामिनी’ शीर्षक एक ऐसा निबन्ध लिखिए जिसमें संक्षेप रूप से इस नाटक के सम्पूर्ण अवयवों का उल्लेख हो जाय।
- १४—“प्रसाद के नाटकों में एक अतीत जीवन बोल रहा है और वर्तमान प्रति उनमें एक संदेश है।” ध्रुवस्वामिनी नाटक से उदाहरण देकर इस कथन की परीक्षा कीजिए।
- १५—“हिन्दी नाट्य-साहित्य के विकास में प्रसाद जी का स्थान निर्धारित कीजिए।
-

